श्री पुंगालिया सरदार ग्रन्थमाला का पुष्प नं० ३

जैन जगत् के उज्ज्वल तारे

(सचित्र)

लेखक—

जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पं० मुनि श्री चौथमलजी
महाराज के शिष्य साहित्य-प्रेमी गणिवर्य
पंडित मुनि श्री प्यारचन्दजी
महाराज

///

प्रकाशक—

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम.

प्रथमावृत्ति कुल २०००	मूल्य छः आने	वी० २४६३ वि० १९९३

प्रकाशक–
मास्टर मिश्रीमल
ऑ० मंत्री
श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति
रतलाम

मुद्रक–
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
रतलाम.

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम.

के

जन्म दाता

श्रीमान् प्रसिद्ध वक्ता पंडित मुनि
श्री चौथमलजी महाराज

सदस्य गण

स्तम्भ

श्रीमान् दानवीर राय बहादुर सेठ कुंदनमलजी लालचन्दजी सा० — ब्यावर
,, सेठ नेमीचन्दजी सरदारमलजी सा० — नागपुर
,, ,, सरूपचन्दजी भागचन्दजी सा० — कलमसरा
,, ,, पुनमचन्दजी चुन्नीलालजी सा० — न्यायडोंगरी
,, ,, बहादरमलजी सूरजमलजी सा० — यादगिरी
,, ,, तखतमलजी सौभागमलजी सा० — जावरा

संरक्षक

,, ,, श्रेमलजी लालचन्दजी सा० — गुलेदगढ़
,, ,, लाला रतनलालजी सा० मित्तल — आगरा
,, ,, उदेचन्दजी छोटमलजी सा० मूथा — उज्जैन
,, ,, छोटेलालजी जेठमलजी सा० कनेरा — (मेवाड़)
,, ,, मोतीलालजी सा० जैन वैद — माँगरोल
,, ,, सूरजमलजी साहेब — भवानीगंज
,, वकील रतनलालजी सा० सर्राफ — उदयपुर

श्रीमान् सेठ कालूरामजी सा० कोठारी ब्यावर
,, ,, कुंदनमलजी सरूपचन्दजी सा० ब्यावर
,, ,, देवराजजी सा० सुराना ब्यावर
,, ,, नाथूलालजी छगनलालजी सा० दूगड़ मल्हारगढ़
,, ,, ताराचन्दजी डाहजी पुनमिया सादड़ी
श्री महावीर जैन नवयुवक मंडल, चितौड़गढ़
श्री श्वे० स्था० श्रीसंघ, बड़ी सादड़ी (मेवाड़)
श्रीमती पिस्ताबाई, लोहामन्डी आगरा
,, राजीबाई, बरोरा सी० पी०
,, अनारबाई, लोहामंडी आगरा
,, चन्द्रपतिबाई सब्जी मंडी, देहली
श्रीमान् मोहनलालजी सा० वकील उदयपुर
श्रीमान् सेठ मिश्रीलालजी नाथूलालजी सा० बाफणा कोटा
,, ,, लखमीचन्दजी संतोकचन्दजी स० मु० मुरार
श्रीमान् सेठ चम्पालालजी सा० अलीजार ब्यावर
,, ,, नेमीचन्दजी शांकरचन्दजी सा० शिवपुरी

सहायक

श्रीमान् सेठ सागरमलजी गिरधारीलालजी सिकन्दराबाद

मेम्बर

श्रीमान् सेठ मन्नालालजी चाँदमलजी ताल
,, ,, सजनराजजी साहब ब्यावर
,, ,, चंदनमलजी मिश्रीमलजी गुलेछा ब्यावर
,, ,, मिश्रीमलजी बांवेल ब्यावर
,, ,, रिखबदासजी खींवेसरा ब्यावर
,, ,, हरदेवमलजी सुवालालजी ब्यावर
,, ,, दौलतरामजी बोगावत भोपाल
,, ,, छगनलालजी सोजतिया उदयपुर

श्रीमान् सेठ छगनमलजी चस्तीमलजी	ब्यावर
,, ,, रतनचन्दजी हीराचन्दजी	बांद्रा बम्बई
श्रीमान् ढोलाजी सोहनलालजी	भवानीगंज
,, हरकचंदजी नथमलजी	पंचपहाड़
,, भँवरलालजी जीतमलजी	सिरवोई
,, गुलावचंदजी पुनमचंदजी	रायपुर
,, रोडमलजी वाबेल	ब्यावर
,, गुलावचंदजी इन्द्रमलजी मारू	मल्हारगढ़
,, किसनलालजी हजारीमलजी	पिपलगाँव
,, उगमचंदजी दानमलजी	वोदवड़
,, राजमलजी नंदलालजी	वरणगाँव
,, वंछलालजी हरकचंदजी	नसीरावाद
,, जमनालालजी रामलालजी सा० कीमती	हैद्रावाद
,, धनराजजी हीराचन्दजी सा०	वैंगलोर
,, हजारीमलजी मुलतानमलजी	वैंगलोर
,, हीरालालजी सा० धोका	यादगिरी
,, कन्हैयालालजी मोतीलालजी सा०	शोलापुर
,, गणेशलालजी चत्तर	सिवनी मालवा
,, सुरजमलजी जैन वेद	माँगरोल
,, उम्मेदमलजी भँवरलालजी वेद	माँगरोल
,, घासीलालजी श्रीनारायनजी सा०	वेतड़
,, सेठ रामचन्द्रजी सा० पल्लीवाल जैन	गंगापुर सीटी
,, ,, रिखवदासजी वालचंदजी	वम्वई
श्रीमान् सेठ चुन्नीलालजी भाईचंदजी	वम्वई
,, ,, रसिकलासजी हीरालालजी	वम्वई
,, ,, सेंसमलजी जीवराजजी देवड़ा	औरंगावाद
,, ,, पनजी दोलतरामजी भण्डारी	अहमदनगर
,, ,, पुखराजजी नहार	वम्वई

निवेदन

इस बीसवीं शताब्दी में हमारे देश में अगणित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और दिन प्रतिदिन अधिकाधिक संख्या में प्रकाशित होती ही जा रही हैं। किन्तु ऐसे सत्साहित्य की अब तक भी बड़ी भारी आवश्यकता रही है जिस से मानव-समाज अपने जीवन का उत्कर्ष कर सके। मानवजीवन की उन्नति के लिये महापुरुषों की जीवनियां सब से अधिक उपयोगी होती हैं। हमारे समाज में महापुरुषों के जीवन-चरित्रों की कमी नहीं है। किन्तु अभी तक कोई ऐसी पुस्तक दिखाई नहीं दी कि जिसमें भूतकाल के महापुरुषों के तप, त्याग और बलिदान की रूप-रेखा संक्षेप और सरलातिसरल भाषा में सम्मिलित रूप में अंकित हो। इसी अभाव की पूर्ति के लिये पूज्य श्री हुक्मीचंदजी म० के सम्प्रदाय के पाटानुपाट पूज्य श्री मन्ना-लालजी महाराज के पट्टाधिकारी वर्तमान पूज्य श्री खूबचन्द्रजी म० के सम्प्रदाय के प्रसिद्धवक्ता जैन दिवाकर पं० मुनि श्री चौथमलजी महाराज के सुशिष्य साहित्यप्रेमी गणिवर्य पं० मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज ने यह "जैन-जगत् के उज्ज्वल तारे" नामक पुस्तक लिखी है। और उन्हीं की कृपाकटाक्ष से हम इस पुस्तक को प्राप्त कर के जनता के हाथों सौंप रहे हैं। अतएव हम मुनि श्री के पूर्ण आभारी हैं।

इस पुस्तक में तीस महापुरुषों की कथाएँ हैं। सभी कथाएँ तप, त्याग और बलिदान की भावनाओं से ओतप्रोत हैं। हमें आशा है कि प्रेमी पाठक इन कथाओं को पढ़कर इनका अनु-सरण करेंगे और कल्याण-साधना में तत्पर होंगे।

—प्रकाशक

भूमिका

इन दिनों जैन-साहित्य के क्षेत्र में जो प्रगति हो रही है उसका नाता बहुत दूर का है। जैन-समाज का अतीत एक गौरवपूर्ण अतीत रहा। संसार की जो मानव-जातियाँ अपनी विमल संस्कृति के लिए आज तक प्रसिद्ध हैं उनमें जैन-जाति का भी एक खासा स्थान है। रोमन लोगों की विजय-दुन्दुभी, यूनानियों की सहज सभ्यता का सरस संगीत, हिन्दुओं का गौरव-गान, जैनियों की कल्याण-वार्त्ता और बौद्धों की मर्म-वाणी आज भी इतिहास के विथिविथया के कण-कुहरों में गूँज-गूँज उठती है! उस समय सुख-शान्ति की चिर-प्यासी यह मानवात्मा बड़े मीठे-मीठे स्वप्न देखने लगती है। यद्यपि जो संसार आज से पहले था वह आज नहीं है; तथापि संसारियों की सत्-चित्-आनन्द की भूख और चिर-शान्ति की प्यास अब भी वैसी ही मधुर है। जैनियों के पुरातन साहित्य का स्वाध्याय कीजिए, हर जगह एक अनोखी शान्ति खेलती-सी मिलती है। कहानी कुछ हो, क्षेत्र कहीं हो, लेखक कोई हो वह साहित्य-धारा कुछ ऐसी अनूठी गति से प्रवाहित है कि उसकी लहरें हमारी आत्मा को छू लेती हैं। इस साहित्य में आत्म-सिद्धि के साधन मौजूद हैं, कल्याण की सीढ़ियाँ लगी हुई हैं और उसके पृष्ठों में 'निर्वाण' की मुहर लग जाने से वह बड़ा प्रामाणिक बन गया है। जैन धर्म की यह दिव्य वाणी, केवल जैन धर्म, समाज या जाति के लिए ही सीमित नहीं है वह तो समस्त संसार की एक अमूल्य निधि हो गई है। इसीलिए हम चाहे जैनी हों, बौद्ध हों या और कोई हों, विश्व-कल्याण की यह शीतल छाया हमारी आत्मा को बड़ी शान्ति दे जाती है।

इस 'जैन-जगत के उज्ज्वल-तारे' में कुछ ऐसा ही भावना-चित्र चित्रित है। पुस्तक के एक-आध स्थलों ने तो हमें बहुत प्रभावित किया। इन कहानियों में पात्र अलग-अलग हैं, कथानक भी भिन्न-भिन्न हैं; पर तत्व सब में एक ही है—और वह महान् तत्व है कल्याण-साधना का। आप देखेंगे कि सरल भाषा में, सरल ढंग से, कुछ ऐसी सरल जीवनियाँ सुनाई गई हैं जिन से मानवों की सहज-सरल आत्मा पूरा मेल खा जाती है। और हम समझते हैं कि इन युग-युग की सन्देश-वाहिनी कहानियों की सार्थकता भी इसी में है।

— गोपाल सिंह नेपाली

(पुण्यभूमि-सम्पादक)

विषय सूची

१

भरत—चक्रवर्त्ती

इस युग के प्रारम्भ में अयोध्या के महाराज श्री ऋषभदेवजी हुए। इन के एक सौ पुत्रों में से, सब से बड़े का नाम 'भरत' था। महाराज स्वयं, इन्हीं के हाथों राज्य का भार सौंप कर, दीक्षित हो गये। आगे चल कर, यही महाराज, अपनी उग्र तपस्या, संयम व्रत की असाधारणता, और परोपकार-वृत्ति की पराकाष्ठा के कारण, तीर्थंकर तक बन गये।

महाराज भरत इतने प्रतिभावान्, प्रतापशाली, प्रजा-हितेच्छुक, और दीन-प्रति-पालक थे, कि उन्हीं के नाम पर, हमारा यह देश 'भारतवर्ष' कहलाने लगा।

कालान्तर में वेही भगवान् ऋषभदेवजी, विहार करते-करते, उसी नगरी में पहुँचे। नगर के बाहर बाग में उन्होंने वास किया। धर्मोपदेश देते हुए, एक दिन उन्हों ने फ़र्माया, कि "वे लोग, जो दिन-रात, ऐशो-आराम, और आरम्भ परिग्रह में आसक्त रहते हैं, मोक्ष के अधिकारी नहीं बन सकते। इन के विपरीत, वे पुरुष, जो दिन-रात रहते तो ऐसे ही वातावरण में हैं; परन्तु प्रत्येक अवस्था में, निवृत्ति-मार्ग ही को अपने जीवन का एक-मात्र ध्येय बनाये रहते हैं, मोक्ष उन के लिए दूर नहीं है।" प्रसंगवश, आगे चल कर उन्हों ने यह भी फ़र्माया, कि "भरत-चक्रवर्ती भी इसी भव में मोक्ष-धाम के अनुगामी बनेंगे।" पड़ोस में बैठे हुए एक स्वर्णकार के हृदय को यह बात अखर गई। वह मन ही मन कहने लगा, "भरतजी, इसी भव में मोक्ष में सिधारेंगे। यह बात तो एक दम असम्भव-सी जान पड़ती है। कदाचित् अपने पुत्र के नाते, भगवान् ने यह बात कह डाली है। अन्यथा, छः खण्डों के राज-मद में रात-दिन रत रहनेवाले, महा आरम्भी और परम परिग्रही की मोक्ष, इसी भव में हो कैसे सकती है!" उसने अपने बल-भर इस बात का प्रचार और प्रसार नगर में, करने की चेष्टा की। महाराज भरत ने भी इस बात को सुना। तब तो, अति शीघ्र ही, महाराज के सामने उसे पकड़ मँगवाने की, राजाज्ञा हुई। तदनुसार, वह तुरन्त ही पकड़ कर लाया गया। और, महाराज के सामने पेश किया गया। राजाज्ञा के अनु-

सुनार, उस के हाथों में लबालब भरा हुआ तेल का एक पात्र रक्खा गया। ऊपर से यह भी फ़र्मान हुआ, कि नगर के मध्य-मार्गों से घुमा-फिरा कर, पीछा, राज-प्रासाद में इस को लाया जाय। परन्तु स्मरण रहे, कि यदि एक बूँद भी तेल की इस ने पृथ्वी पर टपका दी, तो वहीं इस का सिर, धड़ से अलग कर दिया जाय। राजाज्ञा के सुनते ही सुनार के हाथ-पैर फूल गये। परन्तु छुटकारे का कोई चारा न था।

जिन मार्गों से वह स्वर्णकार निकाला जाने-वाला था, वे मार्ग विशेष रूप से उस दिन सजाये गये। जिस से उस का मन, उस सजावट की ओर, किसी भी तरह, आकृष्ट हो जाय। परन्तु यहां तो प्राणों की बाज़ी लगी थी! फिर तो मार्ग में चलते हुए, अपने अर्थात आत्म-रक्षा के जिन-जिन उपायों को वह कर सकता था, अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर उसने किये। जिस-तिस तरह से मार्ग का परिभ्रमण उस ने पूरा किया। अन्त में महाराज के सम्मुख उसे उपस्थित किया गया।

सम्राट ने उस से पूछा,—"स्वर्णकारजी! सच-सच बताओ, आज बाज़ार में तुम ने क्या-क्या देखा? प्राण-दण्ड से तो तुम मुक्त हो ही गये हो। अब किसी भी बात की चिन्ता तुम्हें न रखनी चाहिए।" इस पर वह सुनार बोला—"महाराज! क्या-क्या देखा? इस का उत्तर तो मेरे साथी ही केवल दे सकते हैं। मेरे लिए तो, वह तेल का पात्र, केवल वही लबालब-भरा तेल का पात्र, देखने की एक वस्तु, उस समय थी। मेरे प्राणों का सौदा उसी पर था। आप और अन्य लोग, सभी कहते हैं, कि रास्ते में नाना भाँति के राग-रंग भी बड़े ही अनूठे और चित्ताकर्षक हो रहे थे। परन्तु मैं तो उन सभी

की तरफ़ से सोलहों आना, वेख़बर था। देखना तो दूर की वात रही. मैं ने तो कानों से एक काना शब्द तक सुन न पाया। मुझे तो पद-पद पर केवल यही ध्यान था, कि तेल की एक बूँद तक धरती पर टपकने न पावे। अन्यथा, उस बूँद के साथ ही साथ, मैं भी सदा के लिए वहीं सुला दिया जाऊँगा।"

वस, इसी आप-बीती वात के द्वारा, सम्राट् ने सोनीजी को अपने मन की दशा का परिचय कराया। वे बोले," सोनी-जी ! जिस प्रकार मृत्यु को निकट समझ,विलास-पूर्ण विशाल वाज़ार की एक भी वस्तु की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं था, ठीक उसी तरह, इस वैभव-पूर्ण वड़े-भारी साम्राज्य का शासक हूँ तो मैं जरूर; परन्तु तुम्हारी ही तरह मृत्यु को मैं भी प्रति पल अपने सिर पर अट्टहास करते हुए देखता रहता हूँ। यही कारण है, कि मैं सम्राट् कहलाते हुए भी, सम्राट् सचमुच मैं नहीं हूँ। खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, लेते-देते, हर समय, मेरे ध्यान में, एक-मात्र निवृत्ति मार्ग ही वसा हुआ रहता है। मैं प्रवृत्ति-मार्ग का पोषक, केवल इसी-लिए ऊपर से दिख पड़ता हूँ, कि मेरी अधीनस्थ प्रजा कहीं अकर्मण्य न वन बैठे। अन्यथा,अन्तःकरण से हूँ मैं उसका घोर विरोधी। परन्तु हाँ,मैं केवल उसी दिन को अपने लिए परम सौभाग्यशाली सम-झूँगा, जिस दिन, मैं इस संसार के सम्पूर्ण मोहक एवं विशाल वैभव से, सोलह-आना अपना नेह और नाता तोड़ कर, कैव-ल्य,और केवल कैवल्य-कमला के साथ वरण करूँगा।"अस्तु।

सम्राट् की इस सार-गर्भित वाणी को सुन कर, स्वर्णकार का संशय-शील चित्त लज्जा से एक-दम सिट-पिटा गया। उसका सिर, सक्रिय आत्म-धिक्कार से नीचे लटक पड़ा।

अपने कृत अपराध और धृष्टता के लिए, सम्राट् से, नत-मस्तक हो, क्षमा-याचना उसने की। तदनन्तर, भगवान् आदिनाथ के उपदेशों और वचनों में दृढ़ विश्वास ला कर, वह अपने घर को लौट गया।

एक दिन, सम्राट् अपने शीश-महल में, अपने रूप-यौवन को निरख रहे थे। उसी समय, उनके हाथ की एक अँगुली से हीरे की एक अँगूठी नीचे गिर पड़ी। वह अँगुली उन्हें नंगी और भद्दी-सी नज़र आई। तब तो उन्हों ने एक-एक करके अपने सम्पूर्ण आभूषण अपने अंग-प्रत्यंगों पर से उतार डाले। फिर वे अपने शरीर को निरखने लगे। आभूषण सहित और रहित शरीर की शोभा में उन्हें, हिमालय की चढ़ाई और उतराई के समान, अन्तर जान पड़ा। उसी समय उन्होंने देह की अनित्यता पर विचार किया। दूसरे-दूसरे पुद्गलों के प्रभाव ही से यह सुन्दर जान पड़ती है। अन्यथा, हाड़-माँस-मज्जा आदि गँदले पदार्थों से निर्मित, इस देह में दीप्ति आ कहाँ से सकती है! इन्हीं अनेक भाँति के आवरणों का साथ कर, आत्मा, अनेकों प्रकार की हीन तथा उच्च योनियों में भटकती फिरती है। इन सात्विक विचारों के हृदय में पैठते ही, सम्राट् को वहाँ खड़े-खड़े ही कैवल्य-ज्ञान हो आया। तब तो, उसी पल, अपने सम्पूर्ण राज्य-भार को, उन्हों ने अपने सिर-कन्धों से उतार दिया। और, एक हज़ार अन्य माण्डलिक नरेशों के साथ, वे दीक्षित हो गये। यूँ, आत्म-कल्याण के अक्षय राज-मार्ग का अवलम्बन कर, अन्तिम समय में, निर्वाण पथ के निरन्तर पथिक वे बने।

१

स्कन्धाचार्य

भगवान् मुनि सुव्रत स्वामी के समय, सावत्थी (स्याल-कोट) के राजा जितशत्रु थे। महारानी का नाम धारिणी था। प्रजा इन महाराज के राज में तन, मन और धन से सब प्रकार, भरी-पूरी थी। इन की न्याय-नीति तथा उदारता की घर-घर में धूम थी। महाराज को 'स्कन्ध-कुमार' नाम का एक पुत्र था। और 'पुरन्धरयशा' नामक एक कन्या। दोनों बालक सु-

शील, धर्म-भीरु, दयावान्, विद्वान्, विवेकशील और परम मातृ-पितृ-भक्त थे। पुत्री जब विवाह के योग्य हुई,दण्डकारण्य के महाराज 'कुम्भकार' को दी गई। एक दिन महाराज कुम्भ-कार का पुरोहित, पालक, सावत्थी में आया। समय पाकर, एक दिन, उसने एक सभा में, अनेकों प्रकार की कुयुक्तियों से, नास्तिक मत का मण्डन कर, उसका प्रचार करना चाहा। परन्तु विद्वान् स्कन्ध-कुमार के शास्त्र-सम्मत तथा अकाट्य-प्रमाणों के आगे,पालक के पैर उखड़ गये। उसे भरी सभा में, लज्जित हो कर, कुमार के सामने अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी। कुमार ने उस की प्रत्येक कुयुक्ति का, व्यवहार और सिद्धान्त दोनों को साथ रख कर, यों मुँह-तोड़ उत्तर दिया, कि जिसे देख कर सारी सभा दंग-सी रह गई। बस, उसी पलक से पालक, कुमार का कट्टर शत्रु बन गया। उस के मन में, ईर्ष्या उमड़-उमड़ कर उछलने लगी। वह वहाँ से अपने राज्य में आया। और, दिन-रात इसी चिन्ता में रत रहने लगा, कि कुमार को अपनी करणी का मज़ा कैसे चखाया जाय।

इधर, कुमार ने, किसी एक दिन, भगवान् मुनि सुव्रत स्वामी का उपदेश सुन लिया। जिसके कारण, संसार की असारता का बोध उन्हें हो गया। उन के साथ, उस समय, अन्य चारसौ निन्यानवे साथी राजकुमार भी थे। उन का भी वही हाल हुआ। तब तो इन सभी ने दीक्षा ग्रहण कर ली। और, ये सब के सब अपने जप, तप तथा संयम में निमग्न रह कर, इधर-उधर विचरण करने लगे। एक दिन, मुनि स्क-न्धाचार्य ने, दण्डकारण्य प्रदेश में जा कर, अपनी सांसारिक बहिन को प्रतिबोध करने की बात सोची। इस के लिए भग-

वान् मुनि सुव्रत से उन्होंने आज्ञा चाही। भगवान् ने उन पर अचानक आने वाले उपसर्ग की बात उन्हें कह सुनाई। इतना ही नहीं भगवान् ने यह भी उन्हें कहा, कि " उस उपसर्ग से तुम्हारे साथी लोग तो आराधिक बनेंगे: परन्तु तुम्हीं अकेले विराधिक होगे। " होनहार हो कर ही रहती है। जो लोग अपने से ज्ञान तथा अनुभव में बड़े हैं, उन की हित-मयी बात को न मानने से भी, अनेकों प्रकार की आपत्तियों का उन्हें अकारण ही सामना करना पड़ता है। स्कन्धाचार्य तथा उन के साथियों के सिर पर भी वही बलाय आ कर पड़ी, जो गुरु-जनों की अनुभव-सिद्ध और हित-जनक वाणी को न मानने-वालों के सिर, अचनक आ कर पड़ती है। स्कन्धाचार्य तथा उनके अन्य साथियों ने दण्डकारण्य की ओर, प्रस्थान कर ही दिया। और, विहार पर विहार करते हुए, वे एक दिन दण्डकारण्य प्रदेश की राजधानी के प्रसिद्ध उद्यान में जा विराजे।

पुरोहित पालक ने कुमार से बदला चुकालेने का इसे बड़ा ही सुन्दर सुयोग जाना। और, उस से पूरा-पूरा लाभ उठा लेना चाहा। उसी रात को, मुनियों के ठहरने के ठीक पास ही में, उस ने बड़े ही भयंकर पूरे-पूरे पांच सौ अस्त्र-शस्त्र भूमि में गड़वा दिये। इतना ही नहीं, सुबह होते ही होते, वह राजा के सामने जा पहुँचा। उसने राई का पर्वत बना कर इस बात को राजा के आगे कही। वह बोला, " महाराज का भगवान् सदा भला करें। परन्तु समय बड़ा नाज़ुक है। जिसे आप अपना मानते और समझते हैं, वही आप का साला, जिसे आप अपना सच्चा सहायक भी कहते आये हैं, आज अपने चार

सौ निन्यानवे अन्य वीर योधाओं के साथ कपट मुनि का वेष धारण कर, आप के उद्यान में आ उतरा है। वह इस बात की टोह में है, कि समय अनुकूल देख कर, आप के राज्य पर धावा बोल दिया जाय। बड़े भयंकर शस्त्रास्त्र भी उनके साथ हैं, जो उनके पड़ाव के पड़ोस ही भूमि में गड़े पड़े हैं। मुझे आज ऐसा स्वप्न पड़ा है। हाथ कंगन को आरसी ही क्या? यदि महाराज को कोई एतराज़ न हो, तो चल कर मामले को ज़रा दो आँखों से देख लें! पालक की स्वामि-भक्ति भरी दलील महाराज को माननी पड़ी। वे उसके साथ सवार हो लिये। और चल मौक़े पर आये। पालक की बात सोलह आना सत्य निकली। यह देख कर महाराज बड़े ही दंग हो रहे। महाराज और उन के अन्य साथियों ने पालक की पेट-भर प्रशंसा की। कुमार को कठिन से कठिन दण्ड देने की राजाज्ञा हुई। दण्ड का निर्णय तथा सर्वाधिकार पालक की इच्छा पर छोड़ दिया गया। कूट-नीति-कुशल पालक की अब तो पूरी बन पड़ी। पालक ने अपने अपमान का बदला, एक गुना नहीं, दस गुना नहीं, वरन् पूरा-पूरा सैकड़ों गुना चुका लेना चाहा। पुरोहित के साथ महाराज बस्ती की ओर आ गये।

आते ही पुरोहित ने कुछ कुशल कारीगरों को अपने साथ लिया। बस्ती के बाहर एकान्त स्थान उसने देखा। वहाँ अपनी इच्छा के अनुसार, एक विशालकाय, नर-संहारक कोल्हू की रचना उसने करवाई। तब बारी-बारी से स्कन्धाचार्य के चार सौ अठानवे साथ में आये हुए मुनियों को, बड़ी ही निर्दयता-पूर्वक, उस में डाल-डाल कर, गन्ने की भाँति, पिलवा दिया गया। अब स्कन्धाचार्य और उनके एक छोटे शिष्य-मात्र रह

गये। आचार्य ने उस से पहले अपने को पिलवा देना चाहा। परन्तु नर-संहारक पालक ने उन की जरा भी नहीं सुनी। उसने आचार्य के देखते ही देखते उसे भी उस कोल्हू में पिलवा दिया। यह देख, आचार्य का हृदय, क्रोध के कारण उबल पड़ा। उनके हृदय में क्रोध और बदला चुकाने की भावनाओं का एक बारगी ज्वार-भाटा सा आ गया। अन्य मुनियों ने तो हँसते-हँसते इस रोमाञ्चकारी वेदना को सह लिया था। यही कारण था, कि वे प्रत्येक अपने आठों घन-घाती कर्मों का एकान्त अन्त करने में पूर्ण सफल हो सके। और, वे मोक्ष में भी पहुँच गये। परन्तु आचार्य की अन्तिम भावनाओं में, क्रोध का उग्र उबाल था। बस, इसी कारण से, आचार्य को पुनर्जन्म धारण करना पड़ा। दूसरे जन्म में, वे भुवनपति में जाकर, अग्नि-कुमार के रूप में उत्पन्न हुए। समय पाकर, तब वहीं से, उन्होंने अपने प्रतिपक्षी के प्रदेश पर, अग्नि की भयंकर वर्षा की। परन्तु अपनी बहिन के खास प्रासाद को बिलकुल छोड़ दिया। बस, उसी दिन से उस प्रदेश को लोग 'दण्डकारण्य' कहने लगे।

अतः अन्तिम समय में, जैसे भी हमारे भाव होते हैं, वैसी ही हमारी गति होती है। तब हमें अपने भावों को सदा सर्वदा शुद्ध तथा सम बनाये रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। साथ ही, हमें यह भी कभी न भूलना चाहिए, कि द्वेष की प्रचण्ड आग, केवल प्रेम ही से बुझाई जा सकती है। द्वेष से तो वह उलटी और भी धधक उठती है।

उदाई राजा

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले, भगवान् महावीर के समय, सिन्धु नदी के किनारे, 'वित्तभयापाटण' एक बड़ा ही विशाल और रमणीय नगर था। महाराज उदाई वहाँ के राजा थे। कई वर्षों तक वे न्याय-नीति और सुख-पूर्वक राज करते रहे। सत्संगति के वे बड़े प्रेमी थे। एक दिन उनके पुण्यों का उदय हुआ। उन्हें इस बात का दृढ़ निश्चय हो गया,

कि संसार असार है। वहाँ का बड़े से बड़ा राज-वैभव हला-हल विष के सदृश है। तब भगवान् महावीर के निकट, दीक्षित होने का उन्होंने मन में ठाना। वीर प्रभु उन दिनों चम्पा नगरी में थे। वहाँ से विहार कर वे वित्तभयापाटण की ओर पधारे। महाराज ने इसे अपनी मनोकामना की सिद्धि का बड़ा ही सुन्दर सुयोग समझा। परन्तु इस के पहले, वे इस पशो-पेश में पड़ गये, कि राज का भार किस के कन्धों पर रक्खा जाय। अन्त में, उन्हों ने निश्चय किया, कि "इस राज-मुकुट को, जो सचमुच में प्राण-नाशक, नुकीले काँटों का ताज है, जो 'विष-रस-भरा कनक-घट' जैसा है, अपने प्राण-प्रिय पुत्र को तो कभी नहीं पहनाऊँगा। क्योंकि, जिसे स्वयं मैं अपने ही लिए लोक तथा परलोक का नाशक समझता हूं, उससे मैं अपने ही पुत्र को दुखी और बेहोश क्यों करूँ। यूँ सोच-समझ, अपने भाँजे को वह राज उन्हों ने सौंप दिया। और, आपने स्वयं वीर प्रभु की शरण में जा, अपने लोक और परलोक की साधना के लिए, दीक्षा ग्रहण कर ली। छिछले विचार के पुत्र ने, पिता के इस पवित्रतम कार्य में, अपने साथ घोर अन्याय हुआ माना: अपना बड़े से बड़ा अपमान समझा। जिसके कारण, उस ने उस राज्य की सीमा के भीतर रहना तक पाप माना। और, अन्यत्र जा बसा। उधर आचार्य उदाई भी, तप और संयम का पूर्ण पालन करते हुए, गाँव-गाँव में विचरण करते: और एक दिन धर्मोपदेश देते-देते, उसी वित्तभयापाटण में आ पहुँचे।

उनके भाँजे राजा को उनके आगमन का सन्देश मिला। उन्होंने समझा, "मेरे मामाजी मुझ से राज्य को छीन कर, पुनः

अपने पुत्र को देने के इरादे से ही यहाँ आये हुए हैं।" जगत् के विद्वानों ने कहा है, कि राजनीति, समय के अनुसार अपने रंग पलटा करती है। उसने किसी का भी विश्वास करना तो सीखा ही नहीं। यह सोच कर एक राज-घोषणा उन्होंने उसी समय अपनी राजधानी में करवा दी, कि "आये हुए उदाई मुनि को, कोई कभी भूल कर भी, आहार-पानी न बहरावें। और न उन्हें निवास के लिए स्थान ही दे। राजाज्ञा की अवहेलना करने पर प्राणान्त तक का कठोर दण्ड दिया जा सकेगा।" जान-बूझ कर अपने आप को मौत के मुँह में कौन डालना चाहेगा! राजाज्ञा के पालन करने का पूरा-पूरा प्रयत्न लोगों ने किया। प्रत्येक घर के स्वामी ने अपने-अपने घर के सामने ऐसे-ऐसे साधन जुटाये, कि जिससे वह घर मुनि की दृष्टि में असूझता जान पड़े। वैशाख की प्रचण्ड तपन ने पृथ्वी को भाड़ की कढ़ाई बना रक्खा था। वही दिन, मुनि के मास-खमण के पारणे का दिन भी था। घर-घर और दर-दर घूमते-घुमाते लगभग एक बज चुका। मुनि को कहीं से भी आहार-पानी न बहराया जा सका। धूप की प्रचण्डता, पृथ्वी की, भयंकर तपन, और थकावट के त्रि-ताप से, मुनि को दाह-ज्वर हो आया। राक्षसों की सघन बस्ती लंकापुरी में कोई एक-आध विभीषण रहता ही था। उसी प्रकार, उस बस्ती में भी, एक दीन-हीन कुम्हार, मुनि की इस सन्तप्त दशा को और अधिक समय के लिये न देख सका। उसने उसी समय राजाज्ञा को एक ओर ठुकरा दी। उसने बड़े ही प्रेम भाव से अपने हृदय को निकाल कर मुनि के चरणों में रक्खा। राजाज्ञा के भंग करने में, उसने अपने सर्वस्वापहरण की रंच-मात्र भी पर्वाह

न की। तपोधनी मुनि की सेवा करने और उन्हें आहार-पानी वहरा कर तृप्त करने ही में उसने अपने मानव-जीवन की सफलता मानी। उस के द्वारा प्रार्थना करने पर मुनि ने उस के घर जा, आहार-पानी ग्रहण किया। गुप्तचरों के द्वारा, उसी समय, यह बात राजा के कानों पड़ी। राजधानी के एक प्रसिद्ध वैद्य को उसी क्षण बुलाया गया। और, उसे राजाज्ञा मिली, कि वह बिना विलम्ब किये उस कुम्हार के घर पर जा कर, उदाई मुनि को, किसी औषधि के मिस, हलाहल विष का पान करा आवे। उसी के साथ, यह भी शर्त ठहरी, कि यदि यों मुनि का प्राणान्त करने में वह असफल रहा, तो वह अपने कुटुम्ब-समेत किसी कोल्हू में, ईख की भाँति, पिलवा दिया जायगा। वैद्य ने जाकर पहले तो मुनि की कृपा सम्पादन करने का प्रयत्न किया। तब उसने बताया, कि मुनि किसी भयंकर रोग से पीड़ित हैं, जिस का उपचार तत्काल होना चाहिए। मुनि सम-दर्शी थे। वैद्य की पाँचों अँगुलियाँ अब घी में हुईं। उस ने बावन तोला और पाव रत्ती अपनी शक्तियों की आज़माइश की। मुनि ने औषधि के मिस, हलाहल विष का, निःशंक हो कर, हँसते-हँसते पान कर लिया। विष की गर्मी ने ज़ोर मारा। दाह-ज्वर, मुनि का चौगुना भड़क उठा। परन्तु मुनि ज्ञानी थे। उन्हों ने अपने शुद्ध भावों में अणु-मात्र भी अन्तर न होने दिया। इसी भाव-शुद्धि के कारण, उन के हृदय में 'अवधि-ज्ञान' का उज्ज्वल प्रकाश हो आया। अपने इस ज्ञान के द्वारा, उन्हों ने उसी समय जान लिया, कि राजाज्ञा से वैद्य ने उन्हें विष-पान करवाया है। राजा के इस कार्य की उन्हों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। तथा, यह कहते हुए बार-बार अपने को उन्हों ने धिक्कारा, कि मैं ने

अपने भाँजे के साथ घोर अत्याचार किया है ! उसने तो मुझे विष पिलवा कर, केवल एक ही बार दुख देने का आयोजन किया है: परन्तु मैं ने तो उसे राज-रूपी ऐसा घोरतम विष-पान कराने का प्रयत्न किया है. जिस के कारण दुखित हो कर, वह जन्म जन्मान्तरों तक, धाड़ मार-मार कर, रोता रहेगा। हा हन्त ! मुझसा पापी और स्वार्थी और कौन है ! विष-पान द्वारा प्राण-वध के दण्ड के अतिरिक्त और भी कोई कठोरतम दण्ड हो, वह मुझे शीघ्र से शीघ्र मिलना चाहिए। मैं उसे हँसते-हँसते सहूँगा। मेरे पाप तथा स्वार्थ के प्रायश्चित्त का केवल यही एक उपाय है। " इस कपट हीन आत्म-निन्दा, तथा अपने पापों की बारम्बार की आलोचना-प्रत्यालोचना करने के कारण, एक-बारगी दिव्य 'कैवल्य-ज्ञान' का उज्ज्वल-तम प्रकाश उन के हृदय में हो आया। बस, फिर क्या था, उन की अमर आत्मा ने, अपने भौतिक मुनि-शरीर से नाता तोड़, सिद्धत्व से स्थायी सम्बन्ध जोड़ लिया। परन्तु देवपुर में राजा के इस जघन्य कार्य की करारी निन्दा हुई। देवताओं के हृदय में क्रोध का उफान आगया। उन्हों ने उस कुम्हार के घर को देखकर, सम्पूर्ण राजधानी पर, अग्नि और धूल की प्रचण्ड वर्षा की। राजधानी के रमणीय रंग में अचानक प्रलयकाल का तूफ़ान मच गया। सभी लोगों ने, साधु-अवज्ञा और सन्त-वध का, 'बुवै सो लुवै निदान' के नाते, अपनी-अपनी करणी का तत्काल फल पाया। साथ ही उस राजा के काम ने संसार को यह बात भी सिखाई कि—

> " कृतघन कबहुँ न मानिये; कोटि करै जो कोय।
> सर्वस आगे राखिये; तऊ न अपुनो होय॥ "

हरिकेशी मुनि

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष हुए, तब गंगा नदी के तट पर, किसी एक गाँव में एक चाण्डाल कुल रहता था। उसी में से हरिकेशी नामक एक हरिजन बालक था। नटखटी और उद्दण्डता, उस के जन्म-जात अधिकार थे। रास्ते चलते हुए लोगों से मज़ाक और छेड़-छाड़ करना, मानो उसे उसकी जन्म-घुँटी के साथ पिलाया गया था। उसकी इन दुष्ट

हरकतों से तंग आकर, उसके माता-पिता ने उसे घर के बाहर निकाल दिया। तब इधर-उधर भटक कर वह अपना जीवन बिताने लगा। एक दिन, मार्ग में चलते-चलते, बड़ी तेज़ी से रेंगते हुए साँप को उसने देखा। जिस के लिए लोग चारों ओर से 'पकड़ो' 'पकड़ो' की पुकार मचाते हुए एकत्रित हो रहे थे। उसके थोड़ा ही आगे चलने पर, उसने दो मुँही नामक दूसरे रेंगने वाले जानवर को देखा। परन्तु उसके लिए न तो कोई भीड़-भाड़ ही थी। और, न, पकड़ो-पकड़ो की कोई पुकार ही। इन दोना बातों पर उसने कुछ देर तक सोचा-समझा। अन्त में नतीज़ा निकाला कि एक, संसार को अकारण ही सतानेवाला है; दूसरा, सताने से सदा दूर रहता है। इन घटनाओं का उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने जान पाया, कि सुख और दुख, निज की आत्मा ही के सद्गुण और दुर्गुणों का जीवित फल है। जब उस को इस बात का निश्चय हो गया, उस ने तत्काल ही जैन-धर्मानुसार दीक्षा ग्रहण कर ली। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है, कि जैन धर्म केवल गुणों का उपासक है; न कि चमड़े का। चाहे जिस जाति या धर्म का अनुयायी कोई व्यक्ति क्यों न हो, यदि वह गुण-सम्पन्न है, तो जैन-धर्म बिना किसी पशोपेश और छूआछूत के विचार के, उस का सादर सत्कार करता है। जो भी कोई चाहे, फिर वह चाहे उच्च हो, या नीच! अथवा राव हो, या रंक; अपनी इच्छा के अनुसार, जैन-धर्म का अनुयायी वह बन सकता है। हरिकेशी इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है। समय पाकर वही हरिकेशी, एक आदर्श तपस्वी बने। दीक्षा लेने के बाद, घोर तपस्याएँ इन्होंने कीं। जिनके प्रभाव से, वाराणसी नगरी के

निकट के, तिन्दुक उद्यान के, तिन्दुक नामक एक देवता, प्रभावित होकर, उन के अधीन हो गया। एक बार की बात है, कितने ही महीनों के बाद, हरिकेशी मुनि विचरण करते-कराते, फिर उसी बाग़ में आ निकले। वाराणसी की राज-कन्या भी, अपनी सखी-सहेलियों को साथ ले, उसी समय, उस तिन्दुक देव की उपासना के लिए आई। उसकी सहेलि-यों में से किसी एक आध ने, मज़ाक-मज़ाक में ध्यानस्थ मुनि हरिकेशी की ओर इंगित करते हुए, राजकुमारी से कहा, "बाईजी! यह तो सब प्रकार से आप ही के अनुरूप वर है।" इस पर राजकुमारी ने उधर देख कर, मुनि के कुरूप पर घृणा दर्शाते हुए, व्यंग-पूर्वक दूसरी ओर मुँह फिरा लिया। परन्तु जिस देव की आराधना करने के लिए कुमारी वहाँ आई हुई थी, वह देव स्वयं उन मुनि के वश में था। राज कन्या के द्वारा होनेवाले, मुनि के अपमान को वह देख न सका। उसने उसके मुँह को वैसा ही टेढ़ा-मेढ़ा कर दिया। इस के बाद, वह देव, मुनि के शरीर में प्रवेश कर गया। मुँह के न फिरने से कुमारी घबरा उठी। उसकी सखियों में भग-दौड़ मच गई। राजा ने इस संवाद को सुना। वे भी दौड़े-दौड़े वहाँ आ पहुँचे। मुनि से अनेकों भांति की अनुनय-विनय उन्हों ने की। अन्त में, शरीर में प्रवेश किये हुए उस देव ने, ध्यानस्थ मुनि के मुँह से कहलाया, कि "अब तो, जब यह कुमारी मेरे साथ विवाह करले, तभी इस का मुँह सीधा हो सकता है। अन्यथा, कभी नहीं।" और कोई चारा न देख, राजा ने उस बात को मानली। विवाह रचा गया। विवाह सम्बन्धी सम्पूर्ण रस्मों की भी, कानूनन, अदाई हो गई। परन्तु पाणि-

ग्रहण का समय आते ही, मुनि-शरीर से वह देव निकल भागा। उन्हें होश आते ही, वे एकाएक उस कन्या से दूर उठ खड़े हुए। और, बोले, " अरे! यह क्या? कहाँ तो मैं निर्ग्रन्थ और त्यागी साधु; और कहाँ इस कञ्चन और कामिनी का साथ! मैं तो बुरी दृष्टि से नारियों को देखना तक, अपने तप और संयम के मार्ग का घोर विरोधक मानता हूँ! फिर विवाह का यह पचड़ा मेरे साथ क्यों और कैसा?" यों, कहते-सुनते मुनि तो वहाँ से नौ-दो हो गये! और, सब लोग उन्हें देखते ही रह गये। किसी की भी हिम्मत न हुई, कि वे ऋषि को ठहरा सकें। सामुदायिक रूप से तब प्रस्ताव पास हुआ, कि ऋषि द्वारा त्यागी हुई यह राज--कुमारी, जो अर्द्ध-विवाहित अवस्था में है, केवल ब्राह्मणों के लिए ग्राह्य है। वाद-विवाद के पश्चात् प्रस्ताव पास हो गया। एक तरुण ब्राह्मण-कुमार के साथ उसका विवाह कर दिया गया।

विवाहोपलक्ष में ब्राह्मण-समाज ने प्रीति-भोज दिया। एक तरफ भोजन की तैयारियाँ बड़ी धूम-धाम से हो रही थीं। दूसरी ओर, ब्राह्मण लोग यज्ञ करने में लीन थे। इतने ही में गोचरी के लिए, मुनि हरिकेशी भी उधर आ निकले। इन के कुरूप और मैले वस्त्रों को देख कर, ब्राह्मणों ने इन पर पेट-भर कर ताना-क़शी की। इस पर मुनि के शरीर में उनके सह-गामी देव ने प्रवेश कर कहा, " हम श्रमण हैं; संयति हैं; ब्रह्मचारी हैं; संसारी विषयों से विरक्त बन, हम साधु हुए हैं; भिक्षार्थ यहाँ आये हैं। अपनी शक्ति के अनुसार, जितना भी आहार-पानी तुम लोग हमें वहरा सकते हो, उतना ही हमें दो।" परन्तु ब्राह्मणों ने इस का उत्तर, मुनि को झिड़कते हुए,

केवल सूखे 'ना' में दिया। इस पर मुनि ने फिर यूँ कहा, "भाई ! जो चोरी, हिंसा, व्यभिचार और अन्याय के हिमायती हैं, उन्हें तो तुम खुशी-खुशी खिलाते-पिलाते हो । फिर, हम–जैसे महाव्रतियों के लिए ही तुम्हारा हाथ क्यों नहीं उठ पाता है ! तुम मानो, या न मानो; है तुम्हारी, इस में हिमालय जैसी, भयंकर भूल ! अभी तुम केवल नामधारी पण्डित–मात्र ही हो। सिद्धान्त और व्यवहार को मिला कर, विवेक से काम लेना तुम ने सीखा ही नहीं।" इस से, ब्राह्मण लोग आपे से बाहर हो गये। वे एक स्वर से अपने छात्रों से बोले, इस बकवादी साधु की पीठ को तो ज़रा माँज दो ! बस, कहने भर की देर थी। मुनि पर बालकों ने दिल–भर कर अपना हाथ साफ़ किया। परन्तु मुनि का सहगामी देव, मुनि के इस अपमान को और न देख सका। उसने उसी क्षण उन सम्पूर्ण ब्राह्मण-कुमारों को बेहोश कर के धराशायी कर दिया। उनकी जिह्वाएँ बाहर लटक आईं। उन के मुँह से रक्त का पनाला बह चला। आँखें उन की बाहर निकल पड़ीं। इस दुर्घटना से, सारे ब्राह्मण-समाज में कुहराम मच गया। अब तो चारों ओर से दौड़-दौड़ कर वे मुनि के पैर पकड़ने लगे । और, अपने को सोलह आना अपराधी स्वीकार करते हुए, अनेकों प्रकार की प्रार्थनाएँ वे उनसे करने लगे। यह जान कर, देव, मुनि-शरीर से निकल भागा। मुनि ने दया की दृष्टि से छात्रों की ओर देखा। वे सब के सब बात की बात में उठ खड़े हुए । हँसते-हँसते मुनि भी वहाँ से चल दिये। यों, आनन्द–पूर्वक अपने चारित्र का पूर्ण पालन करते हुए, अन्त में वे मोक्ष-धाम को सिधारे। तभी तो कहा गया है, कि छोटे से छोटे कुल में

उत्तराध्ययन की रचना के सम्बन्ध में निर्युक्ति, चूर्णि तथा अन्य मनी
बाहु की दृष्टि से उत्तराध्ययन एक व्यक्ति की रचना नहीं है। उनकी दृष्टि से
भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. अंगप्रभव, २ जिनभाषित, ३. प्रत्ये
उत्तराध्ययन का द्वितीय अध्ययन अंगप्रभव है। वह कर्मप्रवादपूर्व के सत्त
अध्ययन जिनभाषित है।[३५] आठवाँ अध्ययन प्रत्येकबुद्धभाषित है।[३६]
समुत्थित है।[३७]

हरिकेशी मुनि

उत्पन्न पुरुष भी सद्गुणों को अपना कर, नर से नारायण बनने
का पूरा-पूरा हक़दार हो जाता है।

५

अनाथी मुनि

प्राचीन काल में मगध-विहार-प्रान्त में राजगृह नामक एक बड़ा ही समृद्धिशाली नगर था। उन दिनों महाराज श्रेणिक वहाँ के राजा थे। किसी दिन वायु-सेवन के लिए वे वन की ओर गये। चलते-चलते वे 'मंडी कुक्ष' नामक बाग़ में पहुँचे। वहाँ उन्हों ने, एक परम तेजस्वी और नवयुवक मुनि को ध्यानमग्न खड़े हुए, देखा। उन का शरीर स्वस्थ

और सुडौल था। रूप भी उनका बड़ा ही रूरा था। एक ओर, संयम के कारण, कान्ति ने उन के चेहरे पर अपना अविचल अड्डा जमा रक्खा था। तो दूसरी ओर सौम्य-भाव, उन की नस-नस से टपका पड़ता था। वे अपने ध्यान में ऐसे मग्न थे, कि देखनेवाले घंटों उन की ओर देखते रह कर भी, उन्हें 'विदेही' ही समझते थे। क्योंकि, भाँति भाँति के रंग की जंगली मक्खियाँ, डाँस मच्छर, आदि अनेकों प्रकार के विषैले जन्तु उनके शरीर पर हर समय बैठते। उसे वे काटते। यहाँ तक कि कभी-कभी तो उस में से रक्त का प्रवाह तक होने लगता। परन्तु फिर भी देह का भान भुलाये हुए, वे निश्चल तथा निर्भय हो कर ज्यों के त्यों खड़े ही रहते। मुनि की इस अवस्था को देख, महाराज श्रेणिक, उन के गुणों पर लट्टू हो गये। निकट आ मुनि को उन्हों ने वन्दन किया। तथा उन के अपने साधु बनने का कारण भी उन्हों ने उन से पूछा। मुनि की समाधि इस समय पूर्ण हो चुकी थी। उत्तर में, "राजन्! मैं अनाथ था," वे बोले। "यह तो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। आप के दिव्य रूप से, तो आप बड़े ही भाग्यशाली जान पड़ते हैं," आदि कहते हुए, राजा खूब ही कहकहा पड़े। वे फिर मुनि से बोले, "अगर ऐसा ही है, तो छोड़िये इस झमेले को यहीं; और चलिये मेरे साथ राज-महलों में! अब, और शीत, वात और आतप के आतप को सहने की रंच-मात्र भी आवश्यकता नहीं। आज से मैं स्वयं आप का नाथ बना। अतः आगे से, अपने आप को, अब अनाथ आप न मानिये।" बदले में मुनि बोले, "राजन्! वाणी स्त्री-लिंग-वाचक है। इस के चंगुल में, बिना विचारे फँस जाना, बुद्धिमानों के लिए किसी भी प्रकार ठीक नहीं। आखिरकार तो,

यह अबला ही है। जब यह वाणी स्वयं ही अबला है, तो इस के अधीन में जाकर, कोई अनाथ; सनाथ तो बन ही कैसे सकता है ! अतः ज़रा विचार कर बोलो। बोलने में इतनी जल्दी कभी न करो। फिर, आध्यात्मिक दृष्टि से, तो अकेले तुम ही क्या, सारा जगत् ही मुझे अनाथ जान पड़ता है। तब तुम मेरे नाथ हो कैसे सकते हो ! "

मुनि की मर्म-भरी वाणी को सुन कर, राजा सहसा चौंक उठे। और तमक कर बोले, " मुनि ज़रा ठहरो ! मैं कौन हूँ, इस बात का आप को पता नहीं है, इसी कारण, आप को मेरे सनाथ-पने में सन्देह हो आया है। आप ने श्रेणिक सम्राट् का नाम तो अवश्य ही सुना होगा। वही मैं हूँ। मैं एक विशाल राज्य का अधिपति हूँ। हज़ारों सिपाही मेरे अधीन हैं। मेरा कोष, कुबेर के कोष को भी मात कर देने वाला है। इतने पर भी आप की निगाहों में मैं अनाथ ही बना रहा ! आगे से, कभी भूल कर भी ऐसा न कहें। " उत्तर में, मुनि ने कहा, " राजन् ! अभी तक तुम यही समझ नहीं पाये, कि वास्तविक अनाथ और सनाथ कहते किसे हैं ? मैं पहले कौन था, ज़रा इसे भी जान लो। कौशाम्बी नगरी का मैं निवासी था। मेरे पिता, धन की अटूट प्रचुरता के कारण ही; 'प्रभूत-धन-संचक' के नाम से प्रसिद्ध थे। कुटुम्ब के सभी पुरुषों का मुझ पर अटूट प्रेम था। इतना ही नहीं, मेरे पसीने की जगह, वे अपना खून बहाने को भी सदा तैयार रहते थे। एक दिन की बात है, जब कि मैं यौवन के बीहड़ वन में प्रवेश कर रहा था। मुझे नेत्रों की हृदय-वेधक पीड़ा हुई। उस से मुझे एक पल-भर भी विश्रान्ति न मिलती। मेरे पिताजी ने इस पीड़ा

का पिंड छुड़ाने के लिए, पानी की तरह. अपने परिश्रम से कमाये हुए धन को बहाया। सारे कुटुम्बी मेरी पीड़ा से पीड़ित थे। बड़े-बड़े प्रसिद्ध वैद्यों ने उपाय किया। मेरे दुख से मेरी अर्द्धांगिनी तो इतनी पीड़ित हुई, कि खाना-पीना और नींद निकालना तक उस ने छोड़ दिया। सूख कर वह काँटा बन गई। फिर भी सारे प्रयत्न अकारथ हुए। कोई भी भौतिक उपाय उस पीड़ा से मुझे मुक्त न कर सका। अन्त में, कोई उपाय न देख कर, मैं ने अपनी आत्मा के सम्मुख प्रतिज्ञा की, कि यदि मैं इस पीड़ा से मुक्त हो पाया, तो दीक्षा धारण कर लूँगा। इस प्रतिज्ञा के मेरे हृदय में प्रवेश करते ही, मेरी वह पीड़ा, शशक-शृंग के समान उड़ गई। मैं ने भी अपने वचन का उसी समय पालन किया। मैं दीक्षित हो गया। तब से मैं प्राणी-मात्र की रक्षा और सेवा में जुट पड़ा। और तभी से मैं अनाथ से सनाथ भी बन पाया हूँ। राजन्! सनाथ, सच्चा सनाथ, तो वही है, जिसने प्राणी-मात्र की रक्षा तथा सेवा में अपने जीवन को निसार कर दिया हो। इस पर से तुम स्वयं ही बताओ, कि तुम अनाथ हो, या सनाथ? मैं जानता हूँ, कि अपने अनाथपन में आप को अब रंच-मात्र भी सन्देह न रहा होगा। जब बात ऐसी है, तब राजन्! बताओ, आप मेरे नाथ बन कैसे सकते हो?"

राजा ने अपनी भूल को स्वीकार की। मुनि के दार्शनिक गूढ़ ज्ञान पर वे मुग्ध हो गये। मुनि के प्रति उन्हों ने अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। और, अपनी कृतज्ञता-प्रदर्शन के फल-स्वरूप, वे जैन-धर्म के अनुयायी भी हो गये। सम्राट् श्रेणिक को अनाथ और सनाथ के भेदाभेद की गूढ़ पहली

समझाने के कारण, मुनि भी, इसी दिन से 'अनाथी मुनि' के नाम से प्रख्यात हुए।

६

कम्पिल-ऋषि-राज

आज से बहुत पहले, भारतवर्ष में कौशाम्बी एक नगरी थी। वहाँ के राजा जित-शत्रु के दरबार में, काश्यप नाम के एक बड़े ही बुद्धिमान और अग्रसोची पुरोहित थे। उन की स्त्री का नाम यशा था। यही यशा कम्पिल-ऋषि-राज की माता थी। कम्पिल अभी पाँच वर्ष ही के थे, कि इन के पिता का स्वर्ग-वास हो गया। इन की नाबालिगी में, पुरोहित का काम भी,

राज्य की ओर से, किसी दूसरे ब्राह्मण को दे दिया गया था। एक दिन, वही नवीन पुरोहित, बड़ी सज-धज के साथ, कम्पिल के घर के सामने से निकला। उसे देख, कम्पिल की माता को अपना पूर्व-वैभव याद हो आया। उसी की स्मृति में वह फूट-फूट कर रोने लगी। अबोध बालक ने अपनी माता से यूँ आलाप-विलाप करने का कारण पूछा। " प्यारे लाल! एक दिन वह था, जब तुम्हारे स्वर्गस्थ पिताजी भी इसी ठाट-बाट और सज-धज के साथ निकलते थे। जिस पद पर, आज यह पुरोहित है, उसी पद पर कभी तुम्हारे पिता जी भी थे। राज्य में उन का सोलह आना सम्मान था। अब वह सम्मान तो एक ओर रहा; तुम्हारे अबोध, अज्ञान और कम-उम्र होने से, वह पुरोहिती का पुश्तैनी पद तक अपने वंश से छिन गया। कब वह दिन होगा, जब तुम सबोध, सज्ञान और बालिग़ होगे। बस, इसी बात का अचानक स्मरण मुझे हो आया; और मेरी छाती भर आई। " उत्तर में, " यदि ऐसा ही है, तो मैं भी लगन के साथ, उसी प्रकार के विद्याध्ययन में, आज ही से लग पड़ूँ, " कम्पिल ने हकचकाते हुए कहा। " बेटा! वैसी विद्या यहाँ तो तुम्हें किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि, यहाँ के लोग हम से ईर्ष्या करते हैं। परन्तु हाँ, एक उपाय है। यदि तुम सावत्थी (स्याल-कोट) में चले जाओ, तो वहाँ तुम्हारे पिताजी के परम मित्र, पण्डित इन्द्रदत्त उपाध्याय रहते हैं। वहाँ तुम्हारा मनोरथ सफल हो सकता है। वे सच्ची लगन के साथ, तुम्हें विद्या-ध्ययन करा सकेंगे। " माता ने कहा।

इस पर, कम्पिल मचल पड़े। उनके हृदय को माता की

बात लग गई। बालक ने सावत्थी को जाने का हट पकड़ा। एक ओर, अबोध और अज्ञान बालक की बाल-हट थी। दूसरी ओर, कोमल-हृदय माता की मोह-भरी ममता। दोनों में कुछ समय तक दाँव-पेंच चलते रहे। अन्त में, जीत का सेहरा बाल-हट ही के सिर बँधा। माता ने विवश हो कर, बालक की जिज्ञासा पूरी करने के लिए, उसे स्यालकोट भेजा। बालक लालायित हो कर, उपाध्याय के पास, विद्याध्ययन के लिए पहुँचे। उपाध्याय को नमन कर, अपनी हार्दिक अभिरुचि उन्हों ने, उन के सामने प्रकट की। इस पर उपाध्याय ने कहा, " विद्याध्ययन की तुम्हारी इच्छा को मैं पूरी कर सकता हूँ। ग्रन्थादि भी मेरे पास अनेकों, और एक से एक बढ़िया हैं। परन्तु तुम्हारे भरण-पोषण का भार उठाने के लिए मैं एक-दम असमर्थ हूँ। " तत्काल ही कम्पिल बोल उठे, भगवन्! मैं तो ब्राह्मण-कुमार हूँ। भिक्षा-वृत्ति से, अपने पेट का प्रश्न, मैं सरलता-पूर्वक, हल कर लूँगा। इस पहली को सुलझाना, तो हम-जैसों के लिए, बाँयें हाथ का खेल है। "

उपाध्याय ने फिर भी बालक के मार्ग में रोड़ा अटकाया। वे बोले, " भिक्षा का कार्य जितना ही सीधा तुम्हें दिख पड़ता है, उतना ही वह कठिन भी है। विद्याध्ययन के लिए सादे और सात्विक भोजन की ऐकान्तिक आवश्यकता है। बिना ऐसा किये, विद्याध्ययन दुर्लभ और दूभर है। " बड़ों के रोड़े भी छोटों के लिए आशीर्वाद हो जाते हैं। कम्पिल, उपाध्याय के सामने निश्चल-भाव से खड़े ही रहे। अन्त में, उन्हें दया आई। वे, कोमल-हृदय कम्पिल को साथ ले, शालिभद्र नामक एक सेठ के पास आये। उन्होंने कम्पिल का पूरा परिचय

उन्हें दिया। सेठ ने उपाध्याय के कथानुसार, बालक के भोजन की सारी व्यवस्था सुगमता-पूर्वक कर दी। कम्पिल के पास, समय पर, भोजन दे आने का काम, सेठ की ओर से एक दासी को सौंपा गया। संगति का फल मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। और, विनाश काल में बुद्धि भी विपरीत हो जाती है। धीरे-धीरे, दासी के प्रेम में कम्पिल फँस गया। अब उनके समय, शक्ति और श्रम का अधिकांश भाग, विद्याध्ययन में नहीं, वरन् दासी के प्रेम में व्यतीत होने लगा। विद्याध्ययन की कमज़ोरी देख कर, उपाध्याय ने, उस के कारण ढूँढ निकालने की, अपने बनते बल चेष्टा की। परन्तु वे इस दिशा में असफल रहे। हाँ, बदले में, काम्पिल, उपाध्याय के अनेक भाँति के उपालम्भ के शिकार अवश्य होते रहे। पाप फूलता है; फलता नहीं। इस नियम से एक दिन सेठ को इस गुप्त रहस्य का पता लग गया। उसने उसी क्षण, दासी को अपने घर में से निकाल अलग कर दिया। फिर भी काम्पिल के गले का हार वह बनी ही रही। हाँ, विद्याध्ययन से उन्होंने अपना नाता अवश्य तोड़ दिया।

कम्पिल के दिन, दासी के साथ, अब प्रेमालाप में बीतने लगे। एक दिन वसन्तोत्सव नगर में मनाया जा रहा था। नगर का सारा महिला समाज, वस्त्राभूषणों से सज-धज कर किसी बाग में, उस उत्सव के मनाने के हेतु, एकत्रित हुआ था। कम्पिल की प्रेम-पात्री भी वहाँ पहुँची। परन्तु दारिद्रता के कारण, इस के पास न तो कोई वस्त्र ही अच्छे थे; और, न कोई आभूषण ही। उस समाज के द्वारा, इस की काफ़ी रूप से खिल्ली उड़ाई गई। यह मन मार कर घर को लौट आई।

अपने प्रेम-पात्र से अपनी सारी दुर्दशा का हाल उसने कहा। कम्पिल ने इस दशा में कोई परिवर्तन करने के लिए अपनी पूरी-पूरी विवशता बताई। उस ने कहा, सिर-तोड़ परिश्रम करने पर भी, भिक्षा में उन्हें इतना कम मिलता है, कि उस से पेट का प्रबन्ध भी पूरा नहीं हो पाता। फिर सुन्दर वस्त्र और बहु-मूल्य आभूषणों की चर्चा तो चलाई ही कहाँ से जा सकती थी। इस पर दासी ने कम्पिल को एक मार्ग बताया, कि यहाँ का राजा, नियमपूर्वक, प्रति दिन, दो माशे सोने का दान देता है। उसे प्राप्त करने का वे प्रयत्न करें। कम्पिल ने नियम-पूर्वक वह भी कितने ही दिनों तक किया। पर सफलता उन्हें एक दिन भी न मिली। कोई न कोई बाधा उन के मार्ग में प्रति दिन आ ही जाती। एक दिन, उसे पाने के लिए, आधी रात ही को, घर से वे निकल पड़े। कोतवाल ने चोर समझ कर उन्हें पकड़ लिया। और, तरह-तरह की तकलीफ़ें उन्हें दीं। दूसरे दिन सुबह, राजा के सामने उन्हें पेश किया गया। राजा, मनोविज्ञान का जाननेवाला था। उस ने आकृति के द्वारा, कम्पिल को आपदा का मारा एक दरिद्र व्यक्ति पाया। उस ने उन्हें अभय दान दे कर, अपनी सारी राम-कहानी कह सुनाने को कहा। कम्पिल ने अपनी सारी दुख-कथा कह सुनाई। कम्पिल की सचाई पर राजा रीझ गया। राजाज्ञा हुई, कि कम्पिल इच्छित वर माँगे। यह सुन कर कम्पिल का हृदय बाँसों उछल पड़ा। परन्तु वह, इस के साथ ही, लोभ के समुद्र में भी उतराने लगा। फिर दूसरे क्षण, उसी हृदय के भावों ने अपनी करवट बदली। पूर्व जन्म के पुण्यों का संयोग उन में हो आया। इस बार, वे दिल खोल कर, तृष्णा की निन्दा

करने लगे। अपने- आप को भी पेट-भर कर उन्हों ने धिक्कारा। उसी समय जाति-स्मरण-ज्ञान उन्हें हो आया। अब कम्पिल की आँखों में संसार का धन, केवल धूल-मात्र था। "राजन्! मैं ने सब कुछ पा लिया।" यह कह कर, वे वहाँ से चल दिये। यही नहीं, अपने आत्म-कल्याण के मार्ग की सम्पूर्ण सांसारिक झँझटों को भी उन्हों ने चीर-फाड़ फेंका। साधु जीवन का अनुसरण वे करने लगे। इस मार्ग में केवल छः मास भी मुश्किल से चल पाये होंगे, कि आत्म-कल्याण का राज-मार्ग उन्हें मिल गया। हमें भी चाहिए, कि हम भी खूब देख-भाल कर, अपने साथियों को चुनें।
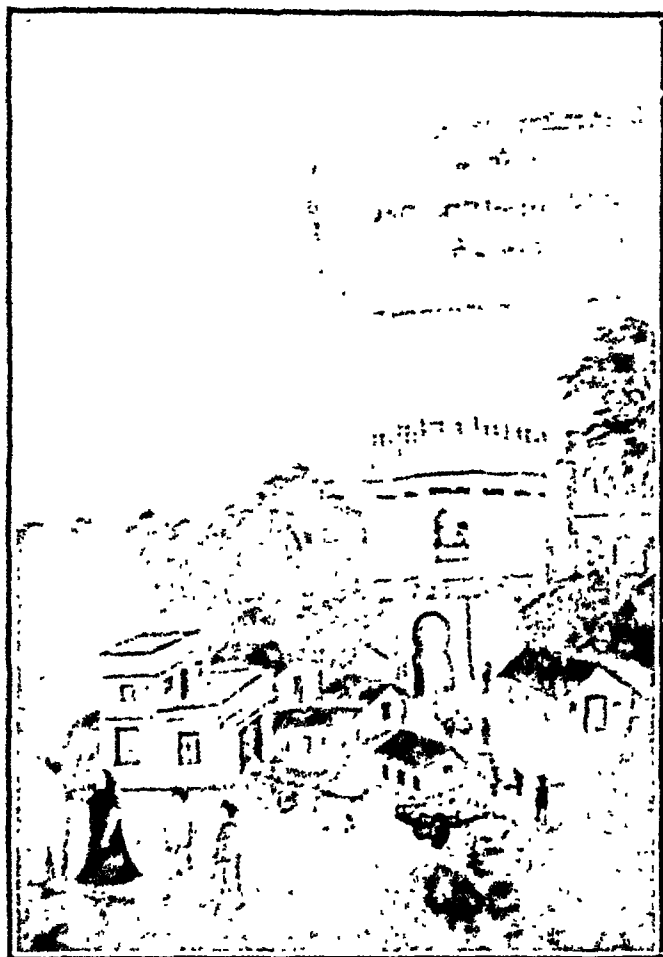
वैराग्य प्राप्त कर के भृगु पुरोहित और उनकी स्त्री तथा दोनों लड़के करोड़ों की सम्पत्ति को ज्यों की त्यों छोड़ कर दीक्षा ग्रहण करने के लिए जा रहे हैं। और आई हुई धन की गाड़ियों को देख कर रानी अपने राजा से कह रही है कि धन सम्पत्ति नश्वर है।

७

भृगु-पुरोहित

आज से बहुत पहले इषुकार नामकी एक नगरी यहाँ थी। इसी नाम के एक राजा वहाँ राज करते थे। महारानी का नाम कमलावती था। इन के दरबार में भृगु नामक एक पुरोहित थे। यशा उन की धर्म-पत्नी थी। धन इन के पास अटूट था। परन्तु थे ये सन्तान-हीन। इसी चिन्ता में, वे रात-दिन बड़े ही चिन्तित रहते थे। एक दिन मुनि-वेषी दो देव इन के पास

आकर, इन की चिन्ता का कारण पूछने लगे। सन्तान का अभाव इस का कारण जान पड़ा। मुनियों ने पहले तो उन्हें कुछ समझाया-बुझाया। अन्त में चलते समय, उन्होंने पुरोहित को, एक के बदले दो पुत्रों के होने का, आश्वासन दिया। बड़ों के द्वारा पाई हुई वस्तु का मूल्य भी उतना ही ऊँचा चुकाना पड़ता है। मुनियों ने आश्वासन तो उन्हें दिया; पर साथ ही यह भी कह दिया, कि वे दोनों पुत्र दीक्षा ग्रहण करना चाहेंगे। उस समय, तुम ज़रा भी उन के मार्ग में रोड़ा न अटकाना। पुरोहित, देवों की इस वाणी से बड़े ही प्रसन्न हुए। वे कहने लगे, "महात्मन्! दीक्षा-जैसे पवित्र कार्य में, ऐसा कौन अभागा है, जो बाधा डालेगा! मैं तो केवल इतना ही चाहता हूँ, कि पुरोहितानी के बाँझपन का कलंक-भर दूर हो जाय।" मुनिवेषी देवों ने 'एवमस्तु' कहा; और, वे वहाँ से चल दिये। समय पा कर, यशा ने दो पुत्रों को प्रसव किया। पुरोहितजी का परिवार पुलकित हो उठा। परन्तु पुरोहितजी के मन में, मुनियों के कथनानुसार, दीक्षा का भय आ घुसा। इस भय से अपना पिंड छुड़ाने के लिए उन्हों ने अपने परिवार, पुरोहित-पन, पुश्तैनी-प्रतिष्ठा, और अपनी अटूट सम्पत्ति, सभी से, सदा के लिए अपना नाता तोड़, वे अपनी पत्नी और पुत्रों को ले, सुदूर भयानक पहाड़ियों में जा बसे।

भृगु पुरोहित ने ज्यों ही देखा, कि बच्चे अब अपने विचार प्रकट करने लगे हैं, वे अब उन्हें जैन-मुनियों की संगति कभी भूल कर भी न करने की शिक्षा देने लगे। वे रोज़ उन्हें सिखाने लगे, कि उन के पास, जो कपड़े में पात्र रहते हैं, उन में वे तरह-तरह के भयानक हथियार छिपाये रखते हैं। वे समय

पीकर, नन्हे-नन्हे बच्चों को फुसला-फुसला कर पकड़ ले जाते हैं। तब वे उन्हें मार डालते हैं। यों, वे पुरोहित, नित्य अपने बालकों को डराने, धमकाने और चमकाने लगे। बालकों का हृदय कोमल तो पहले ही होता है। उन्हें जैसा भी कोई समझा दे, वे ठीक वैसा ही मानने, जानने और करने लग जाते हैं। साधु-हृदय बालकों ने, अपने पिता के हित-प्रद उपदेशों को, हृदय से मानने का वचन अपने पिता को दिया। यही समय है, जब कि मनुष्य, अपनी सन्तानों को जैसी चाहे वैसी बना सकता है। दोनों कुमारों के मन में भय का भूत बैठ गया।

होनी हो कर ही के रहती है। कहीं भी भाग कर बसो; भावी से पिंड छूट नहीं सकता। अचानक एक दिन दो मुनि (गुरु-शिष्य) इधर, मार्ग भूल कर आ निकले। उन्हें देखते ही पुरोहितजी के होश-हवाश खट्टे हो गये। वे मन ही मन सोचने लगे, कि "हाय ! इन से अपना पीछा छुड़ाने के लिए ही तो वन-वन की खाक हम छान रहे हैं। ये तो यहाँ भी आ निकले। कहीं पुत्रों पर इन की परछाई न पड़ जावे। नहीं तो मेरी बुढ़ौती की वैशाखी टूट जावेगी। बड़ी कठिनाइयों से, इस बुढ़ापे में, दोनों पुत्रों को मैं ने पाया है। अतः छाछ–पानी जो भी इन्हें चाहिए, देकर, जल्दी से जल्दी यहाँ से विदा इन्हें करूँ।"

फिर आगे चल कर, उन्होंने दोनों साधुओं को अचित आहर-पानी वहराया। "मेरे दोनों पुत्र बड़े ही क्रोधी, लड़ाकू और उद्दंड हैं; आप जल्दी से जल्दी, वन की ओर पधार जावें।" यह कह कर, उन्हें वहाँ से तत्काल ही वन की ओर विदा कर दिया। पुरोहितजी के इतना उधेड़-बुन करने पर भी,

रास्ते में, दोनों बालकों की मुनियों से भेंट हो ही गई। मुनियों को देखते ही बालक अपना प्राण बचाकर भागे। और, अन्त में, वे किसी बीहड़ वन में, एक बड़े भारी वट वृक्ष के कोटर में जा छिपे। मुनियों का मार्ग भी वही था। चलते-चलते वे भी वहीं आ पहुँचे। और, उस वृक्ष की सघन छाया में भोजन ग्रहण करने लगे। उधर, बालकों के प्राण अलग ही सूखे जा रहे थे। अपने पिताजी के कथानुसार, उन्होंने उन साधुओं को सचमुच में यमराज के दूत ही समझ रक्खा था।

इतने ही में गुरु ने शिष्य को कहा, " देखो, पैर तले दब कर बेचारी वह चींटी कहीं मर न जाय।" मुनि की इस बात ने बालकों के हृदय को कुछ हरा-भरा-सा कर दिया। वे सोचने लगे, अरे! जब ये चींटी जैसे प्राणी तक की प्राण रक्षा का इतना ध्यान रखते हैं, तब मनुष्य-जैसे प्राणी को तो ये मार ही कब सकते हैं! जान पड़ता है, पिता ने हमें उलटी पट्टी पढ़ाई है। हो न हो, इस में कोइ गूढ़ बात है। जो भी कुछ हो, नीचे उतर कर, इन का कुछ परिचय अवश्य प्राप्त करें। बालकों ने अपने निश्चय के अनुसार वैसा ही किया। उनके पूर्व कृत कर्मों ने करवट बदली। कुछेक देर की बात-चीत से ही उन्होंने जान लिया, अर्थात् उन्हें ज्ञान हो आया। पिता की शिक्षा और चमक-धमक का सारा रहस्य उन्हें ज्ञात हो गया। सन्तों का अमोघ, अचानक और अकारण कृपा से उनके सम्पूर्ण पापों का भण्डा फूट गया। संसार अब उनकी आँखों में असार था। एक-मात्र दीक्षा धारण करने का सत्य संकल्प उनके सामने था। मुनि से उन्होंने विदा माँगी। चले-चले वे घर को आये। पुरोहितजी भी उन्हें ढूँढ़ते-ढुँढ़ाते रास्ते ही

में आ मिले । पिता ने कहा, बेटा ! तुम चले कहाँ गये थे ! जिन डाकुओं की बात मैं तुम्हें आज तक कहता रहा, वेही, आज, यहाँ पहुँचे थे। तुम्हारी-उनकी चार आँखे तो नहीं हुई ? उन्होंने कोई जादू-टोना तो तुम पर नहीं किया ? तुम्हें न देख कर, मेरे हाथ-पैर फूल गये थे। धरती मेरे पैर-तले से भाग रही थी। बेटा ! तुम भले आ मिले !" पुत्रों ने कहा, "पिताजी ! न तो वे चोर हैं; न डाकू ही वे हैं। वे तो साधु हैं। पराये के हित अपना प्राण देने वाले हैं। आप की शिक्षा और संसार के व्यवहार की नाड़ी को हमने परख लिया। हमें इससे अधिक और कुछ कहना नहीं। केवल हमें तो आप दीक्षित हो जाने की आज्ञा दे दीजिए। हम दोनों आये भी आपके पास इसीलिए हैं।"

पुत्रों के इस कथन से पिता का प्राण सूख गया। उन्होंने सैकड़ों प्रकार से अपने पुत्रों को समझाया। तरह-तरह की दम-दिलासा उन्हें दी। पर ऐसा कौन अभागा जौहरी होगा, जो जान-बूझ कर, अपने अमूल्य हीरे को काँच के टुकड़े से बदले ! पिता जब अपने प्रयत्न में असफल हो गया, तब तो वह स्वयं ही उनके साथ दीक्षित होने के लिए चल पड़ा। यह देख, यशा ने सैकड़ों प्रलोभन अपने पति को दिखाये। परन्तु पुत्रों का त्याग इतना जबर्दस्त था, कि अन्त में माता ने भी, अपने पुत्र और पति ही का साथ दिया। चारों लोग मुनि के निकट चल पड़े। मार्ग में चलते हुए वे यूँ जान पड़े, मानो, परमार्थ के चार प्रधान साधन—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—वे हों।

वहाँ के राजा को यह घटना मालूम हुई। उसने अपने

सेवकों को, पुरोहित की सारी अटूट सम्पत्ति को, अपने राज-कोष में ला डालने का हुक्म दिया। तदनुसार, धन की गाड़ियाँ भर-भर कर राज-कोष में आने लगीं। राज-महिषी कमलावती ने इस करतूत को देखा। दासियों से उस की सारी छान-बीन उसने की। "पुरोहित भृगु का त्यागा हुआ यह धन है," दासियों के मुँह से यह बात सुन कर वह चकित हो गई। उसी समय उठ कर वह राजा के पास गई। वह बोली, "भगवन्! अपने ही द्वारा दान दिये हुए धन पर, पीछा अपना ही अधिकार! यह तो अनीति है! वमन किये हुए पदार्थ को फिर से चाटना है! कौओं और कुत्तों के भाग को अपनाने की अनधिकार चेष्टा करना है!" रानी के हित-प्रद, किन्तु अप्रिय वचनों से, राजा एकदम तमतमा उठे। और, बोले, "रानी! तुम किसे कह रही हो? क्या कह रही हो? और, किस तरह से कह रही हो! ज़रा, इन बातों का भी कोई भान तुम्हें है या नहीं? तनिक अपने शरीर की ओर तो देखो! क्या तुम भूल गई, कि इसी, और एक-मात्र इसी प्रकार के तामस धन से, तुम्हारे इस तन का पालन-पोषण हुआ है? आज जितनी भी तुम्हारी शान और शौकत हैं, सब ऐसे ही प्राप्त धन पर पनप रहे हैं? अगर ऐसा ही है, तो क्यों इन बहु-मूल्य वस्त्राभूषणों को तुम अपने तन पर धारण किये हुए हो? क्यों नहीं तुम इन्हें उतार फेंकतीं?" रानी ने बदले में कहा, "नाथ! इस तन धन ही की क्या बात! मैं तो इस सम्पूर्ण राज-सुख-वैभव और राज्य तक को, 'विष रस-भरा कनक घट जैसा,' समझती हूँ; विष में बुझाये अस्त्र-शस्त्रों के समान मानती हूँ। लीजिए! आज से ये मेरे नहीं; और मैं

इन की नहीं! परन्तु चलते-चलते, मैं इतना फिर आप से कहूँगी, कि यह अनीति से कमाया हुआ धन और धरती, सब यहीं के यहीं रह जायेंगे। एक न एक दिन अपने को, ये सब छोड़-छाड़ कर, यहाँ से चलना पड़ेगा। तब क्यों नहीं, सुकृत्यों द्वारा, आप अपने जीवन और जन्म को सुधार लेते हैं? सोचिए; और, बार-बार सोचिए!" रानी की ये बातें, राजा के हृदय के हृदय को लग गईं। उन के हिये की आँखें खुल गईं। अब संसार और उस का बड़े से बड़ा वैभव तथा सुख, उन की आँखों में घोरतम घृणा की वस्तु थी; और थी नारकीय यातना। पुरोहित के परिवार के साथ ही साथ, राज-दम्पत्ति भी दीक्षा धारण करने के लिए दौड़ पड़े। सब के सब मिल कर, मुनियों के निकट वे आये। और, दीक्षा धारण कर, अमर आत्म-कल्याण के अधिकारी वे सदा के लिए बन गये। सच है—

(१) समय पाकर, सन्तों की वाणी, अवश्य फलती है।

और (२) कर्म की रेख में मेख मारना, विरले कर्मवीरों ही का काम है।

८

मुनि गज-सुकुमार

जब बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि इस आर्यावर्त में थे, उन दिनों द्वारिका में राजा वसुदेव के घर, महारानी देवकी की कोख से 'गज-सुकुमार' का जन्म हुआ। इन का रूप बड़ा ही अनूठा था। समय पर, इन की समुचित शिक्षा का सुप्रबन्ध किया गया। शिक्षा-सम्पन्न राज-कुमार, जब यौवनावस्था को पहुँचे, तब उसी नगरी के परम सदाचार-

गजसुकुमार मुनि के सिर पर, उनका श्वसुर सोमिल ब्राह्मण, मिट्टी की पाल बाँधकर अग्नि के धधकते हुए अंगारे डाल रहा है।
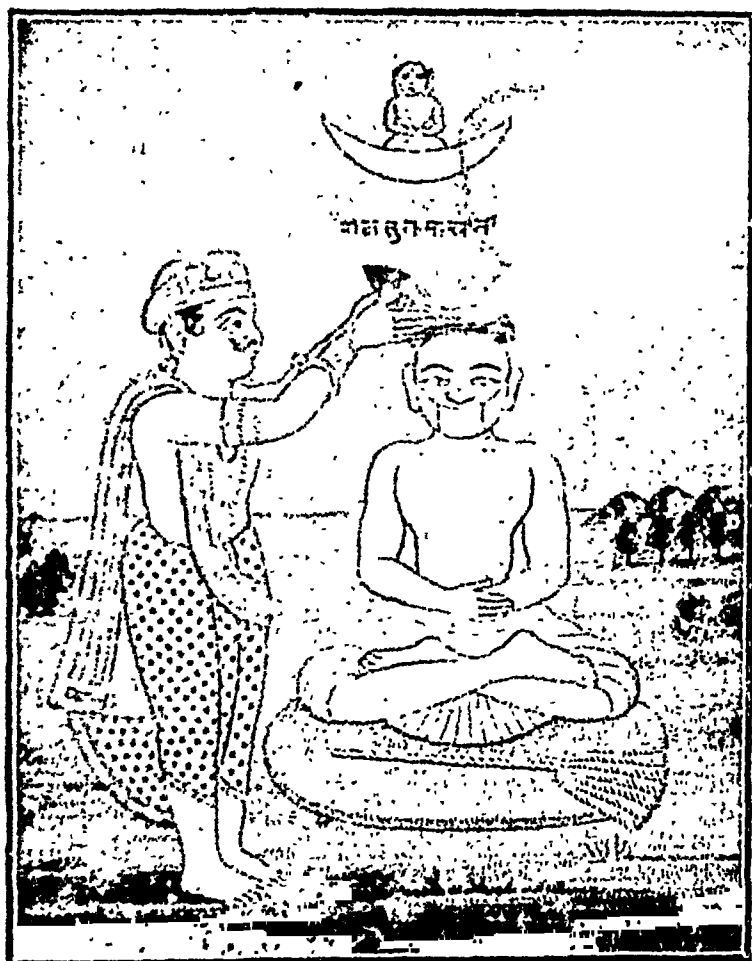
पदायण 'सोमिल' नामक एक ब्राह्मण की 'सोना' नाम की परम सुशीला और लावण्यमयी कन्या से उन का सम्बन्ध निश्चित हुआ।

भव-भय-हारी भगवान्, गाँव-गाँव में विचरण करते हुए, दयाधर्म का पवित्र सन्देश सुनाने के लिए, एक दिन उसी द्वारिका में आ पहुँचे। नगरी के बाहर एक उद्यान में आ कर आप विराजे। बरसाती नदियों की बाढ़ की भाँति, जनता आप के पावन दर्शनों के लिए, चारों ओर से उमड़ पड़ी। गज-सुकुमार भी एक दिन, भगवान् के उपदेश में जा सम्मिलित हुए। उस दिन, भगवान् ने प्रतिपादन किया, कि "संसार के सारे सुख पानी के बताशे की भाँति क्षण-भंगुर हैं; बालू की दीवाल के सदृश चंचल हैं। इसके विपरीत, वैराग्य ही एक ऐसी वस्तु है, जिस में भय और भव-रोगों के लिए कोई गुंजायश नहीं।" प्रभु की इस बोध-प्रद वाणी से कुमार के कान खड़े हो गये। उन के विचारों की दिशा बदल गई। वैराग्य ने कुमार के हृदय में अपना अचल अखाड़ा आ जमाया। उपदेश के अन्त में, उन्हों ने प्रभु से प्रार्थना की, कि "प्रभु भव-भय-हारी हैं। मुझे भी भव-रोग से मुक्त कीजिए। दारुण भव-रोगों ने मुझे जन्म-जन्मान्तरों से सन्तापित कर रक्खा है। अब मैं, अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर, प्रभु की पावन शरण में, अपने जीवन के शेष समय को बिताना चाहता हूँ। अतः दीक्षित कर, प्रभु, दास को अपनावें। प्रभु ने तब कुमार को कहा, "जिस प्रकार भी तुम्हें सुख हो, करो।"

अब कुमार घर पर आए। माता-पिता से दीक्षा के लिए आज्ञा माँगी। पहले तो यह अचानक बात सुन कर, वे बड़े

ही खिन्न हुए। कुमार को खूब ही समझाया-बुझाया। अन्त में, जब कुमार को किसी भी प्रकार वे समझा न सके, तब केवल एक दिन के लिए राज्यासन पर बैठ कर, उस का सुखोपभोग करलेने का आग्रह, उन्हों ने कुमार से किया। कुमार ने अपने पूज्य पिता-माता की आज्ञा को सिर पर धारण की। अब उन्हें दीक्षा लेने में और भी सुविधा हो गई। माता पिता ने बड़े समारोह से उनकी दीक्षा करवाई। उसी दिन प्रभु की आज्ञा प्राप्त कर, वे 'महाकाल' नामक एक बड़े ही विकट स्मशान में चले गये। वहाँ उन्हों ने भिक्षु की बारहवीं पड़िमा अंगीकार की। अर्थात् रात-भर ध्यानारूढ़ हो, खड़े रहने की प्रतिज्ञा उन्हों ने की। दिन बीता। सन्ध्या और स्मशान की भयंकरता ने मिल कर ज़ोर पकड़ा। निकट का मार्ग भी मानव-हीन बन गया। आस-पास की इस गम्भीर और नीरव शान्ति ने मुनि की शान्ति को और भी द्विगुणित कर दिया। धाँय-धाँय करती हुई चिताओं की प्रचण्ड धधक ने मुनि के तेज को और भी चमका दिया। इतने ही में, उन का भावी श्वसुर सोमिल, अपने यज्ञादि के लिए समिधा की खोज करता हुआ, उधर आ निकला। उस ने कुमार को पहचान लिया। तब तो वह आपे से बाहर हो गया। अनेकों प्रकार के हृदय-विदारक बोल, वह कुमार से बोल पड़ा। "अरे निष्ठुर! एक ओर तो तेरा यह जघन्य आडम्बर! और दूसरी ओर, मेरी सुशीला कन्या के साथ, तेरे विवाह की सज-धज के साथ तैयारियाँ! मेरी निर्दोष कन्या को तू छोड़ कर चला कैसे आया! इस प्रचण्ड पाप का फल तुझे देर या सवेर में भोगना अवश्य पड़ेगा। देर-सवेर की कौन-सी बात! अपनी करणी का फल, मैं तुझे इसी समय चखाये देता हूँ।" यों कह, पास ही के

जलाशय से कुछ गीली मिट्टी वह ले आया। उसकी, मुनि के सिर पर, पाल उसने बनाई। उस में, पड़ौस की चिता से, धधकते हुए कुछ अंगारे उसने ला उँड़ेले। इस से मुनि को बड़ी ही असह्य वेदना हुई। मुनि की खोपड़ी भुरते के समान भुँज गई। उस में से खौलते हुए खून की तेज़ धारा फूट निकली। फिर भी मुनि, पूरे मुनि ही बने रहे। सोमिल के जघन्य कृत्य पर, उन्हें किंचिन्मात्र भी क्रोध न हुआ। इस प्राणान्तक परिषह को हँसते-हँसते उन्होंने सहन कर लिया। उस समय, सचमुच ही, उन की क्षमाशीलता अद्वितीय थी। वेदना की विभीषणता और असीम सहिष्णुता के शुभ संयोग के समय-मुनि सदा के लिए मोक्ष-धाम में पधार गये। मुनिनाथ! आप की आदर्श क्षमा, मानव-समाज के लिए, एक दिव्य प्रकाश-स्तम्भ है। आप की सहिष्णुता और सजीव शान्ति, हमारे लिए स्वर्ग की सुन्दर सड़क बनी हुई है। जैन-धर्म की छत्र-छाया में, इस सड़क पर लग कर, भूले-भटके हम संसारी जीव, अपने अभीष्ट स्थान-मोक्ष धाम-को सहज ही में पहुँच सकते हैं। ऋषि-राज! आपके इस आदर्श-वाद को हमारा कोटिशः बार नमस्कार!

६

अर्जुन-माली

भगवान् महावीर के समय में, राजगृह (विहार-प्रान्त) नामक एक अति समृद्धिशाली और सुन्दर शहर था। वहाँ उन दिनों श्रेणिक राजा राज करते थे। उसी नगर में अर्जुन नामक एक माली भी रहता था। वह शरीर से सुडौल, सुन्दर तथा स्वस्थ था। लक्ष्मी की उस पर पूरी कृपा थी। साहस, शूरता और शक्ति उसके मित्र थे। उसकी धर्म-पत्नी,

'बन्धुमति' भी उसी के अनुकूल उसे आ मिली थी। उसका निज का एक बगीचा था, जो नगर के बाहर था। वह इतना सुन्दर और मनोहर था, कि अपने मालिक के समान ही, दर्शकों के मन को मोहे लेता था। वह सचमुच में 'आराम' ही था। उसके निकट ही महान् प्राचीन और चमत्कारिक, मुद्गर-पाणि एक यक्ष का स्थान था। उस की मूर्ति लोह-निर्मित थी। अर्जुन-माली बालक-पन ही से उस का परम भक्त था। वह उस पर सदा फूल चढ़ाता; और भाँति-भाँति के भजन गाता था। उन्हीं दिनों, राजगृह में, समान शील, व्यसनवाले छः उद्दंड मित्रों का एक मित्र-मंडल था, जो 'ललित-मंडल' के नाम से प्रसिद्ध था। इस के करतूतों की धाक सारे नगर में थी। भला या बुरा, चाहे जैसा कृत्य वह करता, जनता उसको भला ही मानती थी।

एक दिन किसी महोत्सव की धूम नगर में थी। 'आज फूलों की बिक्री विशेष होगी,' यह जान अर्जुन अपनी स्त्री को साथ ले कर, बड़े सुबह ही अपने उद्यान में पहुँचा। और, फूल चुनने में निमग्न हो गया। फूल चुन चुकने पर, अर्जुन-सपत्नीक उस यक्ष के स्थान की ओर चला। मार्ग में उस उद्दंड मंडली ने उन्हें देखा। वे परस्पर मनसूबा करने लगे, "अपन भी चल कर कहीं इधर-उधर पड़ोस ही में छिप रहें। ज्योंही अर्जुन यक्ष पर फूल चढ़ाने को आवेगा, अपन उस पर टूट पड़ेंगे। उसे बाँध देंगे। फिर बन्धुमति अपनी है। अपन जिस प्रकार चाहेंगे, उस के साथ दिल खोल कर व्यापार करेंगे।" तदनुसार, उन्होंने वैसा ही किया।

अर्जुन ने सपत्नीक यक्षालय में प्रवेश किया। यक्ष पर

दोनों ने पुष्प चढ़ाये। प्रणाम किया। इतने ही में वे छहों उद्दण्ड मित्र, अर्जुन पर लपक पड़े। उसे बाँध गिराया। तब उस की पत्नी के साथ, भर-पेट अत्याचार उन्हों ने किया। अर्जुन ने लोहू का घूँट पीकर, यह सारा अत्याचार अपनी आँखों देखा। अब उसे उस यक्ष की मूर्ति में ज़रा भी श्रद्धा और भक्ति न रही। वह उसे भाँति-भाँति से कोसने लगा। बालकपन से आज तक वह उस मूर्ति को मूर्ति नहीं, वरन् प्रत्यक्ष ही मानता आया था। आज उस की वह भावना, खरहे के सींग के समान, उड़ गई। यूँ विचारों की उदग्र उथल-पुथल अर्जुन के मन में हो ही रही थी, कि इतने ही में एक अनहोनी घटना घटी। यक्ष से अब अपने भक्त का अधिक अपमान न देखा गया। तत्काल वह अर्जुन के शरीर में प्रवेश कर गया। याक्षिकी शक्ति के प्रभाव से, अर्जुन ने अपने सुदृढ़ बन्धनों तक को, तड़ाक से तोड़ गिराया। लोह मुद्गर को उस ने हाथ में उठाई। अपनी स्त्री और छहों आततायी युवकों को उस ने धर पकड़ा। और, मुद्गर के एक ही हाथ में उन का काम तमाम कर दिया। यही नहीं, अपनी उसी याक्षिकी शक्ति के प्रभाव से, वह, घूम-घूम कर, राजगृह के, उसी प्रकार सात व्यक्तियों के समूह को, प्रति दिन स्वाहा करने लगा। हवा की भाँति, अर्जुन की इस भयंकर हलचल ने, सारे शहर को हिला मारा। राजघोषणा हुई, कि नगर के बाहर, कोई भी व्यक्ति, घास-फूस आदि लेने के लिए, कभी न जाया करे।

उन्हीं दिनों 'सुदर्शन' नाम के, श्रमणोपासक एक अति समृद्धिशाली सेठ भी वहीं रहते थे। जड़-चेतन का ज्ञान इन का प्रखर था। रात-दिन धार्मिक कृत्यों में ये रत रहते। अपनी

पीयूष-वर्षा वाणी का रसास्वादन कराते हुए, भगवान् महावीर भी उस वस्ती के वाग में आ पधारे। सुदर्शन ने वीर प्रभु के दर्शन आदि का अनायास लाभ उठाना चाहा। सुदर्शन के माता-पिता ने, उन्हें, अर्जुन के अत्याचार भय दिखा कर, जाने से रोका। परन्तु सुदर्शन की भगवान् के श्री चरणों में भक्ति की भावना का प्रवाह प्रबल था। वे किसी भी क़दर न रुके। भगवान् के दर्शन को आखिरकार वे चल ही दिये। मार्ग में उन्हें देखते ही अर्जुन ने यक्षिणी शक्ति के साथ उन पर धावा बोल दिया। परन्तु सच्चे श्रमणोपासक, धर्म-वीर, सेठ सुदर्शन, ज्यों के त्यों निर्भय और निश्चल रूप से खड़े रहे। धीरज के साथ भूमि को उन्होंने परिमार्जित की। अरिहन्तों का नमन किया। फिर, सागारी अनशन व्रत को धारण कर, वीर प्रभु की भव-भय विदारक भक्ति में लीन वे हो गये। अर्जुन के शरीर में प्रवेश कर मुद्गर-पाणि यक्ष ने धावा तो सेठ पर किया; परन्तु सेठ के अद्वितीय तप और तेज के सम्मुख, वह उन का वाल तक वाँका न कर सका। तब तो वड़ा ही लज्जित हुआ। और, अर्जुन के शरीर को छोड़ कर, निकल भागा। यक्ष के पञ्जे से मुक्त होते ही, अर्जुन धरती पर धड़ाम से जा गिरा। उधर सुदर्शन ने भी अपने को उपसर्ग-रहित जानकर, अपनी प्रतिज्ञा का यथाविध पालन किया। कुछ ही देर के पश्चात्, अर्जुन को भी होश आया। उसने सेठ का परिचय पूछा। यही नहीं, वह प्रभु के दर्शनार्थ भी उन के साथ हो लिया। महा प्रभु के दर्शन और सदुपदेश से अर्जुन के भावों की भूमि एक-दम वदल गई। सच है; ' सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्। ' अर्थात् सत्संगति मनुष्य के लिए क्या-क्या नहीं करती। अर्थात् सव कुछ कर देती है परन्तु। जव

मनुष्य के जन्म-जन्मान्तरों के भाग्यों का उदय होता है, तभी सत्संगति उसे मिलती है। और, सत्संगति के प्राप्त हो जाने पर, जब अज्ञानजन्य मोह तथा मद के अन्धकार का अन्त हो जाता है, तभी विवेक की आँखें उस के हृदय में खुलती हैं। बस, इतना कर लेने ही में मानव-जीवन की सफलता है। अर्जुन को, भगवान् के एक ही बार के उपदेश से, संसार से उपराम हो गया। उसने अपने कुत्सित कर्मों के लिए हार्दिक पश्चात्ताप किया। भगवान् के द्वारा वह दीक्षित हो गया। अब वही अर्जुन, जो कल तक एक माली था, आज एक पञ्च-महाव्रत धारी, कञ्चन-कामिनी के त्यागी मुनि के रूप में जगत् के सामने आया।

प्रभु की आज्ञा पा, बेले-बेले की तपश्चर्या उन्हों ने की। पारणे के दिन, जब कभी वे बस्ती में आहार-पानी के लिए जाते, लोग उन्हें अपना अपने सम्बन्धियों के जानी दुश्मन मान कर, मन माने क्रूर कर्म उन के साथ करते। आहार-पानी भी कभी उन्हें मिलता और कभी नहीं। परन्तु उन्हें अपने घन-घाती कर्मों का जड़-मूल से उच्छेदन करना था। वे सन्तोष-पूर्वक, सम-भावों से, जो भी कुछ परिषह सिर पर आ कर पड़ता, हँसते-हँसते उसे सहते रहे। यूँ पूरे-पूरे छः मास तक का साधु-जीवन उन्हों ने बिताया। और, तब अपने सम्पूर्ण कुत्सित कर्मों का क्षय सदा के लिए कर, वे मोक्ष-धाम को पधार गये। सच है, 'पारस परसि कुधातु सुहाई।' सत्संगति से क्रूर-कर्मा अर्जुन का भी उद्धार हो गया।

१०

धर्म-रुचि-अणगार
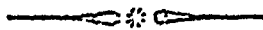
आज से बहुत समय पहले, हमारे इसी पवित्र भारतवर्ष में एक मुनि थे। उन का नाम धर्म-घोष था। गाँव-गाँव में विचरण कर के, धर्म के अहिंसात्मक एवं सर्व-सुलभ सिद्धान्तों का प्रचार तथा प्रसार करना, उन के जीवन का यही एक मात्र सदुद्देश्य था। एक दिन वे अपने पाँच सौ मुनियों के विशाल परिवार के साथ, चम्पानगरी (बिहार प्रान्त) में पहुँचे। शिष्यों

में से एक का नाम 'धर्मरुचि' था। वे बड़े तपोधनी मुनि थे। अपने तप ही के बल, उन्हें कई सिद्धियाँ सिद्ध हो गई थीं। उन दिनों, वे मास—खमण की तपस्या करते हुए, आत्म-ध्यान ही में, प्रति-दिन रत रहते थे।

उसी चम्पा नगरी में, सोम, सोमदत्त और सोम-भूति नामक तीन भाइयों का एक ब्राह्मण परिवार था। उन की पत्नियों के नाम क्रमशः नाग-श्री, भूत-श्री, और यक्ष-श्री था। तीनों भाई आपस में यूँ मिले हुए थे, जैसे पानी में दूध। पूर्व-निश्चय के अनुसार, तीनों का भोजन, बारी-बारी से एक ही जगह बनता। और प्रेम-पूर्वक सारा परिवार साथ बैठ कर, भोजन करता। एक दिन जब सोम के घर भोजन बनने की बारी आई, उस की पत्नी ने तरह-तरह के कई पकान्न और तूँबे की साग बनाई। चखने पर, साग, हलाहल विष के समान कड़ुवी निकली। उसे हटा कर दूसरी साग तैयार कर ली गई। तीनों भाइयों का परिवार आनन्द-पूर्वक भोजन कर के उठा ही था, कि इतने ही में, धर्म-घोष मुनि के तपोधनी शिष्य, धर्म-रुचि अणगार, अपने एक मास की तपस्या की पूर्ति का दिन होने से, गोचरी के लिए, उसी घर में आ निकले। सोम की स्त्री, नाग-श्री ने उस कटु साग को बाहर फेंकने के अपने कष्ट को हलका करने का यह शुभ सुयोग पाकर, वह साग उन्हीं को वहरा दी। उस साग को ले कर मुनि, अपने गुरु के निकट पहुँचे। उन्हों ने साग को देखा और चखा। चखते ही उन्हों ने उसे प्राणान्तक कटु समझ, उसे किसी ऐसे निर्वद्य स्थान में डाल आने की आज्ञा, धर्म-रुचि को दी, जहाँ पर जीवों की विराधना न हो। तपस्वी मुनि ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य की। ढूँढते-ढूँढते, वे एक निर्वद्य

स्थान में पहुँचे। वहाँ भी, पहले, परीक्षा के लिए, केवल एक बूँद उस की उन्हों ने डाली। कुछ ही देर के बाद, उन्हों ने प्रत्यक्ष देखा, कि बीसियों चींटियाँ वहाँ आ रही हैं; और, उस बूँद से लिपट-लिपट कर, छटपटाती हुई, अपने प्राणों का अन्त य कर रही हैं। अहिंसा के कट्टर अनुयायी, मुनि के मन को इस घटना से गहरी चोट लगी। धर्म-रुचि मुनि ने, विष के समान विषैली उस साग को, अन्यत्र कहीं डालने की अपेक्षा, अपने पेट ही को, उस के लिए अधिक उपयुक्त और निर्वद्य स्थान देखा। अपनी आत्मपुकार की अवहेलना, अब अधिक काल तक, वे न कर सके।

जो लोग 'परोपकाराय पुण्याय, और पापाय: पर-पीड़नम्' के गूढ़ सिद्धान्त को, अपने जीवन में पद-पद पर काम में लाते हैं, उन्हें अपने प्राणों का तनिक भी मोह नहीं होता। वे, प्रति पल, निर्भय और निश्चल हो कर मौत का सामना और स्वागत करने के लिए, उतारू रहते हैं। वे इस नश्वर जगत् में, अपनी आनेवाली पीढ़ियों के लिए, अपने समाज के लिए, एक आदर्श उदाहरण छोड़ जाने धुन में सदा रत रहते हैं। वे विश्व-भर के प्राणियों को अपना ही परिवार समझते हैं। परम कृपालु मुनि भी इसी सिद्धान्त के अनुयायी थे। तब निरपराध प्राणियों को, अकारण ही सताना तो उन्हें सुहाता ही कैसे था! नाग-श्री के प्रति, रञ्च-मात्र भी द्वेष-भाव को हृदय में न लाते हुए, विष के सदृश उस विषैली साग को, उन्हों ने हँसते-हँसते स्वयं पान कर लिया। पान करते ही उन के शरीर में असह्य वेदना उत्पन्न हो गई। सम-भावों से उस वेदना को उन्हों ने हँसते-हँसते सह लिया।

उसी समय उन्हों ने संथारा भी ले लिया। कुछ ही काल के बाद, उन का स्वर्ग-वास हो गया।

उधर, धर्म-घोष मुनि बड़ी देर तक अपने शिष्य की बाट जोहते रहे। जब वे आते न दिखे, अपने अन्य शिष्यों को, उन की खोज में, उन्हों ने भेजा। बड़ी भारी खोज के पश्चात्, वे साधु वहाँ पहुँचे, जहाँ तपोधनी धर्म-रुचि अणगार ने, संथारा कर, समाधि प्राप्त की थी। धर्म-रुचि के शव को देख कर, उन्हें भी बड़ी वेदना हुई। अन्त में, वे मुनि के भण्डोपकरण को अपने गुरु के निकट लाये। और, सारी घटना उन्होंने अपने गुरु से कह सुनाई। गुरु ने अन्य सम्पूर्ण मुनियों को निकट बुलाया। चारों ओर से धर्म रुचि के सद्गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी। गुरु-देव ने अपने पूर्व-ज्ञान द्वारा निष्कर्ष निकालते हुए कहा, "धर्म-रुचि, सर्वार्थ-सिद्ध विमान में आकर उत्पन्न हुए हैं। वहाँ से एक भव और कर के, वे मोक्ष-धाम को प्राप्त हो जावेंगे।"

सच है, बिना तपाये सोने की परख कभी हो ही नहीं पाती। साधुओं का जन्म, परोपकार ही के लिए होता है। हज़ारों मन साधुता के सिद्धान्तों-भर को मानने की अपेक्षा, उस का रत्ती-भर व्यवहार में लाना, अधिक श्रेष्ठ है; अधिक श्रेयस्कर है; आत्मा के अधिकतर निकट पहुँचने का मार्ग है; और, लोक-कल्याण के लिए अधिक उपयोगी है।

११

पुण्डरीक—कुण्डरीक

प्राचीन समय में, 'पुष्कलावती-विजय' की 'पुण्डरीकिणी' राजधानी में महापद्म नामक राजा राज करते थे। पद्मावती उनकी पटरानी थी। उन की कोख से दो पुत्र थे। जिनका नाम पुण्डरीक और कुण्डरीक था। महाराज ने एक दिन स्थविर मुनि के उपदेश को श्रवण कर, पुण्डरीक के कन्धों, राज का भार रख दिया। और, आप स्वयं आत्म-कल्याण में

लीन हो गया।

उस के कुछ ही काल के पश्चात्, वे-ही स्थविर मुनि पुनः वहाँ पधारे। इस वार के उ देश को श्रवण कर, पुण्डरीक ने तो गृहस्थ-धर्म को धारण किया; और, कुण्डरीक ने मुनि के निकट दीक्षा धारण की। अपने अनवरत अध्यवसाय के द्वारा, कुछ ही काल में, कुण्डरीक मुनि ने पूरे-पूरे ग्यारह अंगों का गंभीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। तपश्चर्या तो उनकी कठोर ही थी। पारणे के दिन, जैसा भी रूखा-सूखा, समय पर उन्हें मिल जाता, उसी को ग्रहण कर अपने संयम का निर्वाह निश्चल-रूप से व करते रहे। परन्तु परिणाम इसका कुछ उलटा ही हुआ। उस रूखे सूखे भोजन से, दाह-ज्वर की व्याधि ने उन्हें आ जकड़ा। यह देख, स्थविर मुनि ने उन्हें अपने साथ लिया। और, फिर से वे उसी राजधानी की नगरी में आये।

महाराज पुण्डरीक ने ज्योंही मुनि के आगमन की सूचना पाई, दर्शनार्थ, मुनि की शरण में वे पहुँचे। अपने भाई मुनि की बीमारी को भयंकर देख, स्थविर मुनि से नगर में पदार्पण करने की उन्होंने प्रार्थना की, जहाँ सुविधा-पूर्वक अस्वस्थ मुनि की उचित चिकित्सा समय पर हो सके। स्थविर मुनि ने वैसा ही किया। महाराज ने कुण्डरीक मुनि के उचित औषधोपचार का प्रबन्ध करवा दिया। कुछेक दिनों के पश्चात्, स्थविर मुनि एक दो साधुओं को, कुण्डरीक मुनि के निकट छोड़, शेष को अपने साथ ले, वहाँ से अन्यत्र विचरण कर गये। राजाश्रय में, थोड़े ही दिन बीतने पर, कुण्डरीक मुनि पूर्ण स्वस्थ हो गये। एक रोग ने मुनि का पीछा छोड़ दिया; परन्तु दूसरे ने, उसके छोड़ते ही, उनका कण्ठ धर दबाया। राज-

प्रासाद के सुन्दर और स्वादिष्ट भोजनों की आसक्ति ने, उन के विहार के मनसूबों को बिलकुल रोक दिया। राजा पुण्डरीक ने भी अपने भाई, मुनि की इस मनोवस्था का संदेश एक दिन सुना। वे मुनि के निकट आकर, उन के साधु-जीवन की सैंकड़ों तरह से सराहना, और अपने विषय-वासना-लिप्त जीवन की हर तरह से निन्दा करने लगे। राजा की उन बातों को सुन कर कुण्डरीक मुनि अपनी करणी के लिए बड़े ही लज्जित हुए। और, ज्यों त्यों, वहाँ से विहार कर, वे स्थविर मुनि की शरण में जा पहुँचे।

ज़बान के इस स्वाद ने, बड़ों-बड़ों को आये दिनों, मिट्टी में मिला दिया। जो भी कोई इस के वश में हुआ, औंधे-मुँह की खाये बिना वह कभी न रहा 'रसना' शब्द स्वयं बतला रहा है, कि यह स्त्री-लिंग वाचक है, अबलता-सूचक है। जगत् में, अबलों और दस्युओं का साथ कर, कौन सबल बना है? जनखों और ज़नानों के सहवास में रह कर, वीर से वीर पुरुष भी एक न एक दिन, अवश्यमेव जनखा और ज़नाना बन बैठता है। संसार के इतिहासों के पृष्ठ, ऐसे अनेकों उदाहरणों से रँगे पड़े हैं। वीर-सिरताज, भारत के प्राचीन बल-पौरुष के प्रत्यक्ष देवता, महाराज पृथ्वीराज चौहान ने, रणांगण में उतरने के कुछ ही पहले, संयोगिता से अपनी कमर कसवाई थी। यही कारण था, कि मुहम्मद गौरी के सामने, अतुलित बल, ऐश्वर्य और पौरुष के, महाराज के साथ रहते हुए भी, उन्हों ने मुँह की खाई। इसी प्रकार, सुभद्रा के नित्य के सहवास ही के कारण युवकों के मुकुट-मणि, भारतीय युवकों की अनूठी शान और मान के धनी, वीरवर अभिमन्यु चक्र-व्यूह का छेदन न कर सके।

मुनि कुण्डरीक भी रसना के रस में लिप्त हो चुके थे। इसी रस ने, पुनः कुछ ही काल में, स्थविर मुनि से कुण्डरीक मुनि का साथ छुड़वा दिया। वे फिर अपने भाई की राजधानी में आ धमके। राजा ने उन का उचित स्वागत किया। उन के संयम की पेट-भरकर प्रशंसा की। परन्तु कुण्डरीक मुनि का मन तो संयमवृत्ति से अब विलकुल ही विचलित हो चुका था।

यह देख, राजा ने उन्हें पूछा, "क्या, संयम पालने की अब आप की इच्छा नहीं है?" बदले में मुनि मौन रहे। 'मौनम् सम्मति लक्षणम्'। इधर, संसार का उपभोग करते-करते, राजा स्वयं उससे ऊब चुके थे। उन्होंने अपने राजसी वैभव और राज-पाट को तत्काल ही अपने भाई, कुण्डरीक के मुनि वेष से बदल दिया। आज से कुण्डरीक पुनः भोगी बने; और, पुण्डरीक पंच महाव्रत-धारी मुनि। कुण्डरीक ने अपने हीरे-से जीवन को काँच से बदल दिया' इस के विपरीत, पुण्डरीक ने अपने कुधातु-मय जीवन को पारस में परिणित कर लिया। सौदा विनिमय का जो भी प्रत्येक के मन के अनुसार हुआ। तब भी एक का मार्ग अधःपतन की ओर था; और, दूसरे का स्वर्ग की ओर।

पुण्डरीक मुनि ने, स्थविर मुनि के दर्शन न होने तक, अन्न-जल ग्रहण न करने का, अभिग्रह धारण किया। यों प्रण कर के, वे वहाँ से चल दिये। उधर, कुण्डरीक, भूखे गिद्ध की भाँति भव भोगों के पीछे पड़े। जिसके कारण, उन के शरीर में अनेकों प्रकार के रोगों ने अपना अविचल अड्डा जमा लिया। यों, पूरे तीन दिन के भोग-विलास ने, उन्हें मोह-माया और आर्त्त-ध्यान के अधीन बना, पूरे-पूरे तैंतीस सागर

तक, अति ही कठोर-तम और कष्ट-पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए, काल के विकराल पंजों में पटक, सीधे सातवें नर्क को भेज दिया।

इस के विपरीत, पुण्डरीक मुनि भी पूरे तीन दिनों में, स्थविर मुनि के चरणों में जा पहुँचे। दुबारा, वहाँ उन्होंने फिर से, ऋषिराज के हाथों. महाव्रतों को धारण किया। तेले के पारणे के दिन, जैसा भी सूखा-रूखा भोजन उन्हें मिला, उसे हृदय से ग्रहण उन्होंने किया। जब कुछ काल के अनन्तर वे अस्वस्थ हुए, संथारा उन्होंने ले लिया। यूँ, काल पूर्ण करके, तेतीस सागर पर्यन्त, परम सुखमय जीवन विताने, और उस के पश्चात् एक भव ही के बाद मोक्ष-धाम को सिधारने के हेतु, सर्वार्थ-सिद्ध नामक स्वर्ग में वे जा विराजे।

इससे निर्विवाद-रूपेण सिद्ध हो गया, कि संसार में सारे अनर्थों का एक-मात्र कारण, केवल रसनेन्द्रिय ही है। अतः प्रत्येक मनुष्य का प्रथम और प्रधान कर्तव्य है, कि वह अपने बनते बल इस की अधीनता से छूटने का उपाय सदा सोचता रहे।

१२

चित्त और सम्भूत

प्राचीन समय में, वाराणसी नगरी के, एक समय महा-राज 'शंख' राजा थे। 'नमूची' उन का प्रधान था। अधिकार, अविवेक और यौवन के सन्निपात से, उस का प्रत्येक कार्य कुछ न कुछ दोष-पूर्ण रहता था। रानी से भी उस का गुप्त सम्बन्ध हो गया। 'जहँ कुमति तहँ विपति निदाना।' इस पाप का भण्डा एक दिन बिना फूटे न रहा। राजा के क्रोध की

सीमा न रही। उन्होंने तत्काल ही उसे प्राण-दण्ड की सज़ा दी। यह कार्य, इन्द्रभूत' नामक एक मातंग (श्वपच) को दिया गया।

काम, क्रोध और लोभ के अनुचित उपयोग से, पुरुष अपने लिए, नर्क का द्वार सदा के लिए खोल देता है। मातंग को धन का लोभ दिखाया गया। और और शर्तें भी नमूची से उसने कीं। बस उसका प्राण बचा लिया गया। नमूची ने मातंग के चित्त और सम्भूत दोनों पुत्रों की पढ़ाई की ज़िम्मे-दारी अपने सिर-कन्धों पर ली। वह अब लुक-छिप कर, मातंग के घर में रहता हुआ, अपने जीवन के अन्तिम दिन बिताने लगा। थोड़े ही समय में, दोनों बालक, पढ़-लिख कर प्रवीण बन गये। मातंग, नमूची का बड़ा अहसान मानने लगा।

कुत्ते की पूँछ, बाँध देने पर, सिधी हो जाती है; सीधी हुई जान पड़ती है। परन्तु छोड़ते ही, वह अपने पहले ही रूप में आ जाती है। यह उस का जन्म सिद्ध अधिकार है। वह उसे छोड़ भी कैसे सकती है! नमूची का मतवाला मन भी ठीक इसी तरह का था। प्राण नाश का भय उस का पहले ही मिट चुका था। मातंग भी उस के अहसान से पूरा-पूरा दब गया था। अतः वह भी उस के विरुद्ध अब कुछ बोल नहीं सकता था। समय पा कर, नमूची, एक दिन, अपनी उसी बेहयाई-भरी बे अदबी से, उसी मातंग की स्त्री से भी पेश आया। मातंग का खून खौल उठा मृत्यु से भी बदतर, उस अपमान को, अब वह और अधिक समय तक सहन न कर सका। वह दिन-रात इसी टोह में रहने लगा, कि किसी तरह से उस का अन्त कर दिया जाय। परन्तु चित्त और सम्भूत, मातंग के इस मार्ग

में बाधक बने। उन्हों ने अपने शिक्षा-गुरु, नमूची पर इस भावी घटना को प्रकट कर दिया। नमूची का दिल, एक बार फिर दहल उठा। वह सजग हो कर, वहाँ से भाग निकलने की चेष्टा करने लगा। और, अन्त में एक दिन, वह वहाँ से, अवसर पाकर भाग भी निकला। चलते-चलते वह हस्तिनापुर में जा निकला। और, वहाँ के महाराज सनत्कुमार चक्रवर्ती का वह मन्त्री बन बैठा। इधर, चित्त और सम्भूत, जिन्हें नमूची ने संगीत-कला का गम्भीर ज्ञान करवा दिया था, रोज़ गाते-गाते गाँव में निकलने लगे। संगीत, एक ऐसी कला है, जिस के द्वारा, बड़े-बड़े द्रुत-गामी और हिंसक प्राणी तक, सरलता पूर्वक वश में किये जा सकते हैं। इसी के प्रताप से, मुर्दा दिलों में संजीवनी शक्ति का संचार किया जा सकता है। कायरों को तोप के लपलपाते मुँह के सामने ला कर खड़ा किया जा सकता है। और, कठिन से कठिन सांसारिक यातनाओं को, कुछेक काल के लिए, प्रायः भुला-सा दिया जा सकता है। संगीत बेकारों की रोज़ी है; और दुखियों की क़रारी है। पाश्चात्य देशों की अनेकों बड़ी-बड़ी शिक्षण-संस्थाओं में, संगीत ही एक ऐसी प्राण-प्रद वायु है, जिस के द्वारा वहाँ के गँदले से गँदले वातावरण को, बात की बात में शुद्ध बनाया जाता है। वह संगीत ही है, जिस से अन्धे लोग, सूरदास कहलाते हैं। और, गुंडे से गुंडे भी तानसेन के पवित्रतम पद पर बैठाये जाते हैं। अनेकों कुलटा नारियाँ और वेश्याएँ तक, वीणा-पाणि सरस्वती की साथिन, एक-मात्र इसी संगीत की कृपा से बन बैठती है। संगीत, वह जादू है, जिस के बल, हज़ारों प्राणी,, बात की बात में, अपनी ओर खिचे चले आते हैं। उस समय, उन्हें अपने काम और कर्तव्य का कोई भान ही नहीं रहता। अस्तु। संगीत

का यही जादू, चित्त और सम्भूत के कंठ और करों में था। नगर की जिस गली से भी हो कर ये निकलते, जनता अपना सारा काम-काज छोड़ कर, इन के राग-रागनियों को सुनने के लिए, पागलों की भाँति दौड़ पड़ती। नगर की नारियों और बालिकाओं का भाग, इस में, पुरुषों की अपेक्षा अधिक रहता। संगीत कला का, एक ओर तो, श्वपच-बालकों के कंठ और करों के इशारों पर मनमाने रूप से नाचना; और, दूसरी ओर, नगर की कुलीन कामिनियों की उन के पीछे वह सुध-बुध-हीन भगदौड़! नगर के भले लोग इस बात को और अधिक समय तक न देख सके। वे राजा के पास फ़र्यादी बन कर दौड़ पड़े। प्रस्ताव पेश हुआ, कि या तो श्वपच-बालक ही नगर में रहें; या हम ही। राजा ने उन के दर्द का समर्थन किया। दोनों श्वपच बालकों को, तब तो, देश से उसी समय, निर्वासित कर दिया गया।

राजा, प्रजा का पिता कहलाता है। उसे चित्त और सम्भूत की भी दो-दो बातें, कम से कम सुन लेनी चाहिए थीं। परन्तु प्रकृति स्वयं बलवान को चुनती है। बेचारे कमज़ोरों की दुनिया में कहीं दाद-तक नहीं। अनुचित और अविचार-पूर्ण राजघोषणा से, चित्त और सम्भूत के दिल को बड़ी भारी चोट लगी। इस अपमान के कारण, वे आत्म-वध तक करने पर उतारू हो गये। इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु, कालिंजर पर्वत की चोटी पर वे चढ़ गये। वहाँ से वे गिरना ही चाहते थे, कि इतने ही में, एक संयम-व्रतधारी मुनि वहाँ आ निकले। उन्होंने मामले की असलियत को खोज-खोज कर छाना। तदुपरान्त वे बोले,— "प्यारे बालको, जब तुम्हें मरना

ही है, तो यूँ गीदड़ों और कायरों की मौत से क्यों मरते हो! मानव-जीवन बड़ा ही मँहगा है। यहाँ आकर, जाना तो सभी को पड़ता है। परन्तु कुछ काम करते हुए, वीरों की भाँति, यहाँ से जाओ। मरो; और ज़रूर मरो। परन्तु यूँ मरो, कि संसार तुम्हारे मरने को अपना ही मरना समझे।" मुनि की ये बातें उन्हें चुभ गईं। उन्हीं के द्वारा, वे वहीं दीक्षित हो गये। और, मास-मास खमण की तपश्चर्या करते हुए इधर-उधर विच-रने लगे।

एक वार हस्तिनापुर में गोचरी के लिए वे पहुँचे। वह दिन उन के पारणे का था। नमूची को, उन के आगमन का, कहीं से, सन्देश मिल गया। उसे भय लगा, कि कहीं ये लोग उस का भण्डा न फोड़ दें। अपने नौकरों के द्वारा, मार-पीट कर, उन्हें नगर के बाहर निकाल देने का मनसूबा उसने किया। तदनु-सार, नौकरों ने आ उन्हें पीटना शुरू कर दिया। 'चित्त' तो इस मार-पीट से चंचल न हुए। परन्तु पारणे के दिन 'संभूत' को यह बात सहन न हुई। उन्होंने तेजोलेश्या के द्वारा, नगर में धुँआ-धुकड़ मचा दिया। चित्त को जब इस बात का पता लगा, तो वे अपने भाई के निकट आ, उन्हें अपनी साधुता के मार्ग की याद दिलाने लगे। सम्भूति, बदले में, बोले, "भाई! एक तो पारणे का दिन। तिस पर, निरपराध मार-पीट। मैं इसे सहने को तैयार नहीं। इस से सन्थारा कर लेना ही अच्छा है। चित्त ने इस बात का समर्थन किया। तदनुसार, वे दोनों सन्थारा ले कर सो रहे।

इस घटना का हाल हस्तिनापुर के सम्राट् ने सुना। वे बड़े ही घबरा उठे। और सहकुटुम्ब चले-चले, मुनियों की

शरण में आकर, अपने मंत्री के अपराध की क्षमा वे चाहने लगे। इसी समय एक विचित्र घटना घटी। सम्राज्ञी का सिर सम्भूत के चरणों में लगा। उस के बाल चन्दन के इत्र से भींगे हुए थे। इस शीतल और सुगन्धित स्पर्श ने, सम्भूत के चित्त को मोह माया के कीचड़ में फंसा मारा। वे अपनी प्रतिज्ञा से विचलित हो गये। उन की आंखें खुल गईं। सम्राट् के राजसी वैभव को देख वे मोहित हो गये। उन्हों ने निदान किया, कि "मेरी तपस्या का फल हो, तो मैं भी ऐसा ही सम्राट् बनूं।" चित्त मुनि ने अपने भाई के निदान की गति को पहचान लिया। वे बोले, "भाई! यूँ निदान कभी न करो। कौड़ियों के बदले, अपनी उग्र तपस्या के अमूल्य हीरों को यूँ कदापि न बेचो।" परन्तु भावी प्रबल थी। सम्भूत को अभी संसार के अनेकों चक्कर काटने थे। फिर, "विधि जा को दारुण दुःख देई। ताकी मति पहले ही हर लेई॥" सम्भूत का मन हाथी से उतर कर गधे पर बैठ चुका था। उन्हें अपने भाई की एक भी बात पसन्द न आई। फिर तो दोनों ने अपने अपने मन की ही की। दोनों मुनियों ने मृत्यु पा कर, 'सुधर्म' स्वर्ग में जा कर जन्म ग्रहण किया।

काल पाकर वहाँ से पुनः वे दोनों इसी भारत-भूमि में आ कर जन्मे। चित्त-देव, 'पुरिमताल' नगर में, एक सेठ के घर, पुत्र बन कर आये। उधर, सम्भूत-देव का जन्म, कम्पि-लपुर के राजा ब्रह्मभूति के यहाँ हुआ। आगे चल कर, अपने निदान के अनुसार, ये ब्रह्मचक्रवर्ती के नाम से प्रख्यात हुए। समय पाकर, सेठ के पुत्र ने वैराग्य पा, दीक्षा ले ली। अपनी घोर तपस्या के बल, अवधि-ज्ञान के द्वारा, अपने पूर्व-जन्म

के भाई का हाल इन्हें ज्ञात हुआ। उन्हें प्रति बोध देने की इन्हें सूझी। वे उसकी ओर चले। उधर, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को भी जाति-स्मरण ज्ञान हो आया। वे भी अपने पूर्व-जन्म के भाई से मिलने के लिए छटपटा रहे थे। इच्छानुसार, दोनों का अचानक संयोग हुआ। प्रेम-पूर्वक दोनों मिले-भेंटे। ब्रह्मदत्त बोले, "भाई! फेंको ये झोली-झण्डे! चलो राज-महलों में। और, संसार के भोगों का आनन्द-पूर्वक उपभोग करो। यह सुन कर मुनि बोले, "भाई! एक बार तो अपन दोनों एक ही घर में दास-पुत्र थे। दूसरी बार, कालिंजर पर्वत पर, मृग रूप में, साथ रहे। तीसरी बार, गंगा नदी के तट पर हंस बने। चौथी बार, श्वपच के घर अपना जन्म हुआ। पाँचवीं बार, स्वर्ग में भी अपन साथ ही साथ रहे। परन्तु इस छठी बार में, तुम्हारे ही निदान ने, अपने को अलग-अलग कर दिया। अतः छोड़ो इस राज वैभव को! और, आत्म-कल्याण के मार्ग का अनुसरण करो।" मुनि की ये बातें सम्राट् को नागवार गुज़रीं। मुनि ने तब वहाँ से विहार कर दिया। और, कठिन तप के बल, अपने सम्पूर्ण घनघाती कर्मों का एकान्त अन्त कर, सदा के लिए, वे मोक्ष-धाम में जा विराजे। इस के विपरीत, ब्रह्मदत्त का अन्त, भोगों को भोगने में हुआ। वे मर कर सातवें नर्क में गये। निष्काम और सकाम कर्मों का ऐसा ही फल होता है।

१३

सेठ-धन्नाजी

मगध प्रान्त की राजधानी राजगृह में, आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले, महाराज बिम्बसार (श्रेणिक) राजा राज करते थे। उन के समकालीन उसी नगर में धन्नाजी एक बड़े ही भाग्यवान और सम्पत्तिशाली सेठ थे। गौभद्र सेठ की सुकन्या 'सुभद्रा' से इन का विवाह हुआ था। सुभद्रा के भाई का नाम शालिभद्र था।

एक दिन सेठ धन्नाजी अपनी अशोक-वाटिका में स्नान कर रहे थे। सुभद्रा उस समय अपने पति-देव की पीठ का मैल उतार रही थी। उसी समय, उसे याद आई, कि "मेरा एक-मात्र भाई दीक्षित होनेवाला है।" मन में इस भाव के आते ही, उस की छाती भर आई। आँखों से गरम पानी की बूँदें टपा-टप गिरने लगीं। कुछ बूँदें सेठ की पीठ पर गिरीं। उन्हों ने सिर उठा कर पत्नी की ओर देखा। वे तब बोले, "सुभद्रा! क्या कारण है, कि तुम आज यूँ फूट-फूट कर रो रही हो? क्या, तुम्हें कोई मानसिक कष्ट है? तुम्हारा घर और मायका, दोनों जगह सब प्रकार से सम्पन्न और भरी-पूरी हैं! फिर तुम्हें चिन्ता ही किस बात की हुई, कि यूँ तुम एकाएक अधीर हो उठी हो! कौनसी बात तुम्हें यहाँ अखरी है? तुम्हारा अपमान किया किसने है? अपने मन की कहो। मैं अपने बनते-बल तुम्हारी चिन्ता को दूर करने का प्रयत्न करूँगा।"

सुभद्रा ने अवरुद्ध कंठ से कहा. "कुछ नहीं। ज़रा मायके की याद आ गई थी। मेरा इकलौता भाई दीक्षित होने को उद्यत हो रहा है। भौजाई अभी बिलकुल भोली है। संसार की रूप-रेखा और पेचीदा गलियों से वह अभी बिलकुल अनभिज्ञ है। माता-वृद्ध हैं। बस, इन्हीं सब बातों की स्मृति ने अचानक मेरे दिल को दहला दिया। यही कारण है, कि हृदय मेरा उबल पड़ा; और, उस की आहें, आँखों के रास्ते बाहर छलक पड़ीं।"

सेठ ने इस पर कहा,-"बस, इतनी सी बात, और, इतना पश्चात्ताप! जब संसार को त्यागना ही है, तो फिर देर क्यों?

तैयारी भी कैसी ? यह तो कादरता का चिह्न है। यहाँ की एक-एक बात को त्यागने की अपेक्षा, सभी से एक ही दम किनारा काट जाना, वीरता तो इसी में है। मेरी समझ में तो, यह धीरे-धीरे का त्याग, कोई त्याग ही नहीं है ! यह तो त्याग की मखौलबाज़ी है ! संयम के साथ दाँव-पेंच की बातें हैं। और, संसार के भोगों की भावनाओं को और भी मज़बूत बनाने का मार्ग है। शुभ मार्ग में देरी और तैयारी कैसी ? "

सेठजी की इस तानाकशी ने सुभद्रा के दिल को और भी दहला दिया। मायके की याद कर, उस के हृदय में करुणा उमड़ आई; और, पतिदेव की बातें सुन कर, रोष ने उस के ख़ून को खौला दिया। वह तमक कर बोली,— "बात जब सच-मुच में ऐसी ही है, तो फिर शूर-वीरता का परिचय पहले आप ही क्यों नहीं देते ! हाँ, 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे" तो जगत् में पद-पद पर नज़र आते हैं; पर अपनी कथनी को करणी का रूप देने में, भाई शालिभद्र के समान, कोई विरले ही वीर, इस धरणी-तल में समर्थ पाये जाते हैं ! कहने और करने में, पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। एक अगर मनसूबा है, तो दूसरा, व्यापार है। "

सेठजी को सुभद्रा की बातें लग गईं। वे एक-दम उठ खड़े हुए। त्याग की तरंगें, उन के हृदय में इतनी ऊँची उठीं, कि संसार का बड़े से बड़ा वैभव, अब उन के आगे, पल-भर को भी ठहर न सका। वे बोल पड़े, " लो, मैंने आज ही से तुम सभी को छोड़ दिया! संयम को अब अपना साथी मैं ने बनाया ! आज से तुम और तुम्हारी अन्य सौतें, सभी मेरे लिए बहिनें हुईं ! तुम ने, मेरे साथ, बड़ा उपकार किया, जो मोह-माया के इस

कीचड़ से मुझे बाहर निकाल पटका।" सुभद्रा का कलेजा अब तो और भी थर्रा उठा। वह अपने किये पर बार-बार पछताने लगी। अनेकों अनुनय-विनय भी उस ने अपने स्वामी के सम्मुख कीं। पर सेठ जी के मन पर, त्याग का गाढ़ा रंग चढ़ चुका था। वह, लाख प्रयत्न करने पर भी छूट न सका। उधर, सौतों ने जब यह बात सुनी, हकबकाते हुए दौड़ पड़ीं। सुभद्रा की गाढ़ी लानत-मरामत उन्हों ने आ कर की। अब, सभी ने पति-देव को घेर लिया। फिर भी तरह-तरह की मिन्नतें मानी गईं। पर धन्नाजी के आगे, सब बातें बेकार थीं। वे टस से मस न हुए। उन्हों ने केवल इतना ही कहा, "यदि सच्चा स्नेह ही तुम्हें मुझ से है, तो तुम भी छोड़ो इस मोह-माया को; और, चलो दीक्षित होने के लिए मेरे साथ ! यदि संसार को तुम न त्यागोगी, तो संसार तो तुम्हें एक न एक दिन छोड़े ही गा।" वे भी आखिर कार, पुण्यात्मा सेठजी की ही तो पत्नियाँ थीं। उन्हों ने भी तब तो हँसते-हँसते अपने पति-देव का साथ दे दिया।

संसार से नेह-नाता तोड़, ये सब लोग शालिभद्र के पास आये। सेठजी साले से बोले, "दीक्षा के लिए चलो न ! भले काम में विचार और विलम्ब क्यों और कैसी ?" वे भी मानो इन की राह ही देख रहे थे। चट उठ कर, इन के साथ हो लिये। सब के सब मिल कर, वीर प्रभु महावीर की शरण में आये। और, दीक्षित हो गये। तब बहुत समय तक, अन्तःकरण के शुद्ध भावों से पूर्ण चारित्र का पालन वे करते रहे। यूँ, अन्त में, अपनी आत्मा का कल्याण कर, मोक्ष के राज-मार्ग के पथिक वे बने।

यह सब, समय पर कही हुई, अबला कही जाने वाली

सुभद्रा की वाणी का असर था। जिस ने सेठ धन्नाजी के परिवार की दिशा ही बदल दी। जो शक्ति बड़ी-बड़ी तोप के गोलों में नहीं, वह समय पर कही हुई वाणी में है। यही कारण है, कि 'वाणी' का दूसरा नाम 'सरस्वती' है। यही, मधुर बन कर, बड़े बड़े वीरों का मन, बात की बात में, मोहित कर लेती है। इसीलिए लोगों ने इसे 'रसना' कहा है।

१४

सेठ-शालिभद्रजी

वीर भगवान् महावीर के समय में, मगध के वैभवशाली नगर राजगृह में शालिभद्र नामक एक सेठ रहते थे। कुबेर के समान इन का कोष था। संसार के सारे सुखोपभोग इन के यहाँ सुलभ थे। अपने पूर्व भव में येही सेठ, एक ग्वाले के पुत्र थे। वहाँ, इन का नाम, संगम था। जब तक संगम संसार

में नहीं आया था, उस के पिता पशु-धन से भरे-पूरे थे। परन्तु 'संगम' का संगम होते ही, पिता के भाग्य ने पलटा खाया। पिता, संसार से चल बसे। ग्वाले के सोने का घर राख हो गया। परिवार के बीसियों व्यक्तियों में से, केवल संगम और उस की माता, ये दो जन-मात्र बच रहे। अब मज़दूरी ही उन के जीवन का एक-मात्र आधार था। ज्यों-त्यों कर के पूरे आठ वर्ष निकल गये। संगम, जैसे-जैसे सयान होता जाता था, माता, अपने मन ही मन में, उतनी ही ऊँची आशाएँ, लगा रही थी। कुछ भी हो, संगम, आख़िरकार, अभी बालक ही था। माता के मन और परिश्रम को मापने की शक्ति अभी उस में ज़रा भी न थी। खीर खाने की हट, उस ने एक दिन पकड़ ली। परन्तु घर में तो फ़ाकाकशी का पैर-पसारा था। मट्ठा जुटाना तक, बेचारी माता को बड़ा मँहगा पड़ता था; तो खीर की तो फिर बात ही कहाँ से चलती? बाल-हट जो भी होती ज़बर्दस्त है; तब भी जब वह पूरी नहीं होती, बालक मचल पड़ते हैं; रोना शुरू कर देते हैं। रोना, बालकों का आधार है। वह निर्धनों का धन और निर्बलों का बल है। जहाँ मज़बूरी होती है, वहाँ तो रोने ही का एकच्छत्र राज्य होता है। और, क्या-क्या कहूँ, रोना, प्राणों का गायन है। मूकों की, यह, भाषा है। वह असहायों का आश्रय और हताशों की एक-मात्र आशा है। मतलब की इस दुनिया में, रोना, सुरपुर का धन है। रोने से जब गीले आँसू टपटपाते हैं, कितने ही पाषाण-हृदय तब गल कर पानी-पानी हो जाते हैं। साधनों के संसार में जब सोलहों-आना दिवाला पड़ जाता है; बेबसी की बदली सघनरूप से जब चारों ओर छा जाती है;

प्राणों को शिथिल बनाती हुई साहस और शंकाएँ जब भग-दौड़ मचाने लगती हैं; ऐसे गाढ़ संकट में, हृदय का कोई सहारा जब नहीं रह जाता; रोना ही उस क्षण हृदय का हाथ आ कर पकड़ता है। वही, उस को दम-दिलासा बँधाता है। रुदन करनेवाले की कातर आशा, जब छलक-छलक कर सिस-कियाँ भरती है; रोने की तरल तरंगों में तब इन्द्रों का सिंहा-सन हिल जाता है। उसी क्षण इन्द्र आँसुओं की जंजीरों में बँध आते हैं। और, जब दुखिया के आँसुओं में इन्द्र स्नान कर लेते हैं, तब करुणा-भरी आँखों से देख कर, वे उस आर्त्त का सारा दुख हरण कर लेते हैं।

माँ ने बालक को बहुत-कुछ समझाया-बुझाया। पर बाल-हट ही तो थी। वह यूँ मानने ही कब लगता! निराधार माता अब तक अपने को सँभाले हुई थी। अब तो उस के हृदय की बाँध भी टूट गई। उसे अपने गत-वैभव और गुज़रे ज़माने की याद हो आई। वह मन ही मन कह रही थी, "हाय! एक दिन वह था, जब मुझ से मट्ठा माँगने कोई आता और मैं दूध उसे देती थी! और, एक आज हमारी दशा है! चने थे, तब चबानेवाले नहीं थे; और जब चबानेवाले हुए, तब चनों का कहीं पता नहीं। यह सब दिनों का फेर है।" अन्त में दोनों फूट-फूट कर रोने लगे। पाड़-पड़ौसियों ने आ कर कारण की तहकीक़ात की। तत्काल ही उपाय ढूँढ़ निकाला गया। इधर-उधर से खीर का सारा सामान जुट गया। खीर बन गई। माँ ने बच्चे को पुकार कर, उसे परोस भी दी। इतना कर वह तो पानी भरने के लिए चल दी।

पीछे से, एक आकस्मिक घटना घट गई। एक मुनि गो-

चरी के लिए आये। उन के मास-खमण के पारणे का वह दिन था। बालक अभी थाली के पास जा कर बैठा ही था। खीर अभी ठंडी हो रही थी। उस ने दूर ही से मुनि को उधर आते देखा। 'बिनु हरि कृपा मिलहि नहिं सन्ता।' दर्शनों से, उस के भावों की शुद्धि, अचानक हो गई। दौड़ कर वह मुनि के पास गया; और उन्हें अपने घर पर बुला लाया। संगम ने खीर के दो बराबर भाग करने के लिए, थाली में, अँगुली से एक रेखा कर दी। खीर का आधा भाग मुनि के पात्र में बहराने के लिए उस ने थाली उठाई; और उसे ऊँडेली। परन्तु तरल पदार्थ होने के कारण खीर सारी की सारी मुनि के पात्र में जा गिरी। जिस खीर के लिए, उस ने इतना नाच-कूद मचाया था, सब की सब मुनि को बहरा देने पर भी, अब उसे सन्तोष था। पश्चात्ताप से इस समय वह बिलकुल परे था। उलटे, वह अपने भाग्य की सराहना कर रहा था। माँ भी इतने में वापस आ गई।

सरल-हृदय माँ ने समझा, बालक बड़ा ही भूखा था। सारी खीर खा चुका है। उसे फिर भी लेने के लिए पूछा। और, रही हुई खीर, बालक को परोस दी। 'सारी खीर खा चुका है,' माँ की इस टोकार से, बालक के पेट में ज़ोरों से दर्द होने लग पड़ा। वह धरती पर गिर पड़ा। और, दवा-दारू की बात होते ही होते, मछली की भाँति तड़प-तड़प कर मर भी गया। निर्धन माता के बुढ़ापे की वैशाखी टूट गई। आकाश उस पर फट पड़ा। संसार, अब उस के लिए सूना था। संगम, शरीर छोड़ कर, पुनः राजगृह के गोभद्र सेठ के घर, पुत्र के रूप में, आया। सेठ का घर, अमरावती के वैभव

से, किसी भी क़दर कम न था। लक्ष्मी तो, मानो उस के घर, दासी ही बन कर, अपना चोरी-चंडल डाले, आ रही थी। घर के फ़र्श में, ईंट और रोड़ों की जगह पन्ने लगे हुए थे। नव-जात शिशु का नाम 'शालिभद्र' रक्खा गया। यौवन में बत्तीस कन्याओं के साथ उन का विवाह हुआ। गोभद्र सेठ अब स्वर्ग को सिधार गये थे। वहाँ से, वे स्वयं भी, अपने प्राण-प्रिय पुत्र की रही-सही इच्छाओं की पूर्ति में, जुट पड़े। अब तो देवता लोग भी उन के भाग्य को सराहते थे। दुख उन के लिए अब ढूढ़े भी कहीं नाम को न था। यूँ, दिन और महीने, वर्ष और युग, आनन्द-पूर्वक उन के कटने लगे।

एक दिन, रत्नजटित कम्बलों के व्यापारी राजगृह में आये। श्रेणिक राजा के राज-महलों में वे पहुँचे। राजा ने, रानियों के पास कुछ कम्बल, दिखाने के मिस भेजे। रानियों ने उन्हें पसन्द तो देखते ही कर लिये परन्तु खरीदना, राजा की मर्ज़ी पर छोड़ दिया। एक-एक कम्बल की क़ीमत सवा लाख असर्फ़ियों की थी। क़ीमत सुन कर, राजा के कान खड़े हो गये। व्यापारियों को यहाँ से बड़ी आशा थी। राजा के चेहरे को देख कर, बेचारों के चेहरों का नूर उतर पड़ा। उलटे पैरों वे वहाँ से लौट कर, नगर के बाहर एक धर्मशाला में, रात काटने के लिए, ठहर गये। व्यापारी कितना ही बड़े से बड़ा चाहे कोई हो; परन्तु खरीद और बिक्री यदि उन के पास नहीं, तो उन का सारा बड़प्पन, ढोल के ढम-ढम के समान ख़ाली है; नक़ारे के नाद के समान ऊँचा तो है; पर है अन्दर से घुन लगे हुए गेहूँ के समान थोथा और पोला! बेचारे मन मार कर, सिर लटकाये हुए जा बैठे थे। करोड़ों की सम्पत्ति पास में

होते हुए भी, किसी योग्य ग्राहक की फ़िराक़ में, बेचारे बाट के बटोही बे बने हुए थे। खाना-पीना और विश्राम, आज उन के लिए, सब हराम था।

जब तक संसारी-बल का मद, मनुष्य के मन पर शासन करता रहता है, कुदरत का क़ानून उस के पक्ष में नहीं होता। पर ज्योंही उस मद ने उस का साथ छोड़ा, कि उसे कोई न कोई अपने अवलम्बन का सुलभ मार्ग मिल ही जाता है। उसी समय, शालिभद्र सेठ की दासियाँ, पानी भर लाने के कारण उधर से निकलीं। व्यापारियों को नत-मस्तक और शोक-ग्रसित देख, उन्हों ने उन की उदासी का कारण, उन से पूछा। "इस से तुम्हें कोई सरोकार? अपना रास्ता नापो!" उत्तर में व्यापारियों ने कहा। इस पर, "आप लोग दूकानदारी करने निकले हैं! इस में, मनुष्य जब तक, सब की दासी-दासी बन कर नहीं रहता, सफलता उस से कोसों दूर रहती है। ऐंठ और व्यापार का गठ-जोड़ा, किसने, कहाँ, और कब देखा सुना और किया है?" दासियों ने कहा। व्यापारियों में से एक वृद्ध के हृदय को ये वाक्य तीर-से लग गये। वह बोला, "मानी तुम्हारी बात! लो, सुनो! रत्न-जटित कम्बलों के व्यापारी हम हैं। बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध कर, राजा श्रेणिक के पास, दूर से चल कर आये थे। परन्तु 'सुहावन ढोल लगती दूर की है,' के नाते बिक्री हमारी कुछ हुई नहीं। बस, इसी-लिए हम उदास हैं। और कुछ नहीं।"

"बस, यही बात, और इतनी उदासी! हमारे सेठ जी से भी तुम मिले हो? उन से मिलने पर तुम्हें जान पड़ेगा, कि जितने भी कम्बल तुम्हारे पास अभी हैं, उतने ही तुम्हें और लाने

पड़ेगा। इस घर में, एक बार, जो भी आया, कभी विमुख हो कर नहीं लौटा।" दासियों में से एक ने आगे बढ़ कर कहा। व्यापारी और चाहते ही क्या थे! वे तो, ऐसे ही एक पारखी की खोज में, स्वयं ही थे। तुरन्त ही वे उठ खड़े हुए; और, दासियों के साथ हो लिये।

सेठ के घर में घुसते ही, वे बड़े चकित हो गये। राज-प्रासाद से भी वह उन की आँखों में, अनोखा जँच पड़ा। परन्तु दासियों के द्वारा, यह जान कर कि भवन का यह भाग तो, सेठजी के दास-दासियों के रहने का है, व्यापारियों के अचरज का ठिकाना न रहा। वे आगे बढ़े। आगे चल कर, मुनीम-गुमाश्तों के आवासों के पास से वे गुज़रे। यहाँ का वैभव, उन्हें बड़े-बड़े महाराजाओं के वैभव से भी बीसियों गुना ऊँचा। तीसरी बार, वे सेठ की माता, भद्रा के भवन के पास पहुँचे। महल क्या था, मानो देव ही ने, विश्व के विशाल वैभव को एकत्रित कर, उस की अपने हाथों रचना की थी। दासियों ने माता को व्यापारियों का परिचय दिया। तब तो भद्रा और व्यापारियों के बीच नीचे की बात-चीत हुई:-

"क्या चीज़ है?"

"रत्न-जटित कम्बल।"

"कितने हैं?"

"यदि एक भी कम से कम आपने ले लिया, तो इस नगर में आना हमारा सार्थक हुआ। क्योंकि प्रत्येक की क़ीमत, सवा लाख स्वर्ण मुद्राएँ हैं।"

"अजी! मोल-तोल की बात तो मैं पूछती ही कहां हूँ। मैं

पूँछ रही हूँ गिनती और तुम बना रहे हो मोल-तौल ! मुझे इतना समय नहीं।"

"सोलह।"

"मुझे तो बत्तीस की जरूरत थी। खैर ! मुनिमजी, इन्हें बीस लाख स्वर्ण मुद्राएँ दे दो। गिनोगे कहां तक, तौल ही दो।"

व्यापारी, भद्रा की सम्पत्ति, उदारता, और अध्यवसाय के आगे नत-मस्तक हो गये। भद्रा और दासियों का एहसान उन्होंने माना। तब अपने घर को वे लौट पड़े।

भद्रा ने अपनी सोलह बहुओं में उन कम्बलों को बांट दिया। सासूजी के वात्सल्य प्रेम के कारण, बहुओं ने एक दिन तो ज्यों-त्यों करके उन्हें ओढ़ा। परन्तु दूसरे दिन, मकान के पिछले भाग के मार्ग से, राह में, शरीर पोंछ कर, वे फेंक दिये गये। सेठ की मेहतरानी ने उन्हें उठा लिया। वही, राजप्रासाद की भी मेहतरानी थी। एक दिन, एक कम्बल ओढ़कर मेहतरानी, राज मन्दिर के इहाते को झाड़ रही थी, कि इतने ही में महारानी ने उसे देख लिया। महारानी ने उसे अपने पास बुलाया। कम्बल, उसे प्राप्त कैसे हुआ, पूछ-ताछ की। महारानी को स्वाभिक रूप से डाह हो आया। दौड़ी और राजा के पास वह आई। शालिभद्र की सम्पत्ति की सराहना उसने की। अपने भाग्य को कोसते हुए, एक कम्बल तक राजा से न खरीदा गया, यह बात कह कर कर, राजा की लानत-मलामत भी उस ने यथा-शक्ति की। एक ओर तो, उस कम्बल का अपार मोल; और, दूसरी ओर एक ही दिन में, सेठानियों के द्वारा, अपने पास के कम्बलों को उतार कर फेंक देना;

मेहतरनी के द्वारा उन कम्बलों का उठाया जाना; आदि बातों ने राजा के सिर को मन्दा कर दिया। राजा ने शालिभद्र से मिलने की मन में ठानी। सेठजी को बुलाया गया। परन्तु भद्रा ने,—"मेरा पुत्र किसी से मिलता-जुलता नहीं है। राजा चाहें, तो मैं उपस्थित हो सकती हूँ।—आदि बातें कह कर, सन्देश-वाहक को टाल दिया। यह जान कर, राजा स्वयं ही शालिभद्र से मिलने के लिये आये। भद्रा ने उन का उचित स्वागत किया।

सेठ के महल को देखते ही, राजा के अचरज का ठिकाना न रहा। पन्ने जड़े हुए फ़र्श में, पानी भरा हुआ समझ कर, अपनी अँगूठी राजा ने वहां डाल दी। परन्तु पानी तो वहां था नहीं। आवाज़ करके वह उछल कर कहीं जा गिरी। उसे ढूँढने के लिए उन्होंने उधेड़-बुन मचाई। भद्रा ने यह जानकर, तुरन्त ही दासियों के द्वारा, बहुमूल्य हीरों की अँगूठियों का एक थाल भरवा कर मँगवाया; और, उसे राजा की भेंट कर दिया। यह देखकर, राजा सिटपिटा गये।

भद्रा ने राजा को उचित आसन पर बिठा कर, पुत्र को ऊपर से बुलाया। सेठजी ने ऊपर ही से उत्तर दे दिया, कि—"मां, यदि 'श्रेणिक' नाम की कोई वस्तु आई है, तो तुम खुद ही उसे ले लो। मोल-तौल में मैं तो कुछ समझता भी नहीं हूँ।" इस पर माता ने फिर कहा, "नहीं, बेटा! 'श्रेणिक' ख़रीद की कोई चीज़ नहीं है। यह तो अपने नरेश का नाम है। ज़रा, नीचे आकर मिल इनसे अवश्य लो।" शालिभद्र का, यह सुनकर, माथा ठनक उठा। पर आज्ञा माता की थी। वे उसे टालना भी नहीं चाहते थे। अपनी करणी को भी,

अभी उन्होंने अधूरी समझी। अभी भी उनका कोई राजा बना हुआ है, यह बात तो, उन्हें शूलों की सेज से भी अधिक अखरी। नीचे आते ही, राजा ने उनका सिर चूमा। और, अपनी गोदी में उन्हें बिठा लिया। राजा से एक-दो बातें कर, वे पुनः ऊपर चले गये। ऊपर जाकर, उन्होंने मन में निश्चय किया कि अब कोई ऐसी करणी की जाय, जिससे अपने सिर पर 'नाथ' बनने का कोई दावा ही कभी न कर सके।

मनुष्य अपनी भावनाओं का पुतला है। जैसी भी भावनाओं को वह रोज़ बनाता है, स्वयं वह वैसा ही बन जाता है। विचरते-विचरते, भगवान् वीर प्रभु, उन्हीं दिनों, उधर आ निकले। शालिभद्रजी को भी भगवान के अमृतोपम उपदेश के श्रवण का अवसर मिल गया। उनके भावों की भूमि, पहले से शुद्ध और उर्वरा बन ही चुकी थी। सिर्फ प्रभु के पावन उपदेश-रूपी बीज फूँकने-भर की देर थी। अपनी अटूट सम्पत्ति और प्यारे परिवार से, सेठजी ने, उसी क्षण नेह-नाता छिटका दिया। और, प्रभु के पास जाकर, वे दीक्षित हो गये। दीर्घ काल तक संयम व्रत का अनुष्ठान वे करते रहे। अन्त में, संथारा उन्होंने लिया। तब 'सर्वार्थ-सिद्ध' नामक विमान में, वहां से एक भव और बिता कर, मोक्ष-धाम के अधिकारी वे बनेंगे।

यौवन, सम्पत्ति, अविवेक और अधिकार के चतुर्विध संघ में से एक भी जहां होता है, नाश की आशंका निकट रहती है। जब ये चारों साथ होते हैं, तब तो सत्यनाश की बात दूर रह ही कैसे सकती है! परन्तु कर्म की रेख में मेख मारने वाले विरले जन ऐसे भी होते हैं, जो अपने शुभ कर्मों के संयोग से, इनका सदुपयोग कर, सदा के लिए अमर आत्म-कल्याण के अधिकारी

बन जाते हैं। सेठ शालिभद्रजी उन्हीं महान् आत्माओं में से एक थे। ऐसे नर-रत्नों को पाकर, जाति, समाज, राज्य और देश का सिर सदा उन्नत रहता है। वे मनुष्य-समाज का गौरव और अभिमान की वस्तु होते हैं।

१५

ढँढण-मुनि

बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि के समय, द्वारिका में श्रीकृष्ण वासुदेव महाराज का राज था। ढंढण-कुमार उन्हीं के पुत्रों में से एक थे। अपने पूर्व-भव में ये एक भरे-पूरे खेतिहर थे। उन के घर अनेकों नौकर-चाकर थे। एक दिन, उनके पाँच सौ नौकर, अपने तथा बैलों की विश्रान्ति का समय जान,

हल-चक्खल को खेतों में रख, बैलों को छोड़ने लगे। परन्तु उनके मालिक के कहने पर, एक चाँस और खींचना पड़ा। यूँ, पाँच सौ हलों पर के पाँच सौ पुरुषों और एक हज़ार बैलों को, विश्रान्ति के समय, कुछ देर के लिए, अन्तराय उन्होंने दिया। उस भव की अपनी जीवन-यात्रा को पूरी कर, वे ही कृषिकार, महाराज श्रीकृष्ण वासुदेव के घर, पुत्र-रूप में आये। भगवान् के उपदेश से, एक दिन, अपने यौवन-काल में, उन्हें वैराग्य हो आया। जिसके कारण, दीक्षित वे हो गये। तब से कुमार ढंढण, संयम-शील व्रत-धारी मुनि बन कर, इधर-उधर विचरण करने लगे।

अपने दीक्षा के पहले दिन ही से, अपनी ही लब्धि के भोजन तथा पानी को ग्रहण करने का अभिग्रह उन्होंने धारण किया। तदनुसार, वे नित्य गोचरी को जाते। परन्तु अपने पूर्व भव के घोर अन्तराय कर्मों के संयोग से, जहाँ भी ये जाते, विमुख होकर ही, वहाँ से, लौटना इन्हें पड़ता। एक दिन, अन्य मुनियों के साथ, गोचरी को ये गये। इनके कारण, दूसरों को भी, उस दिन, कहीं से भी आहार-पानी नहीं मिला। तब तो अन्य मुनियों ने, अपने साथ, गोचरी में कभी न जाने के लिए, इन से कहा। उसी दिन से, अपने अन्तराय कर्मों को अत्यन्त कठोर समझ कर, और भी कड़े अभिग्रह को धारण उन्होंने कर लिया। अब तो अन्य मुनियों के द्वारा लाये हुए अन्न-पानी को भी ग्रहण करना उन्होंने छोड़ दिया। तब से अकले ही, बस्ती में, गोचरी के लिए वे जाते। दो-दो, चार-चार घण्टे तक लगातार घूमते। परन्तु अन्तराय कर्मों की प्रचण्डता से, अपनी ही लब्धि का अन्न-पानी इन्हें कहीं न मिलता। यूँ, एक-एक

कर के, कड़ाके करते-करते मुनि को छः मास बीत गये। एक दिन छः मास के अन्त का दिन था। मुनि, सूख कर काँटा बन गये थे। परन्तु तपोतेज से मुनि का चेहरा और भी भव्य बन गया था। गोचरी के लिए द्वारिका में वे गये।

उसी दिन महाराज श्री कृष्ण वासुदेव ने, भगवान् से उन के अठारह हजार मुनियों में से, कठोर-तम तपोधनी, और उसी दिन कैवल्य-ज्ञान को प्राप्त करनेहारे मुनि का नाम-धाम पूछा। उन्हीं के संसारी पुत्र, ढंढण-मुनि की बात भगवान ने बताई। इस पर, महाराज कृष्ण वासुदेव, आनन्द के मारे बाँसों उछल पड़े। उनके दर्शनार्थ, भगवान के सम्मुख अपनी इच्छा उन्होंने प्रकट की। भगवान् के बताये हुए पथ पर, तुरंत ही गजारूढ़ हो, वे चल भी दिये। मार्ग ही में, मुनि के दर्शन उन्हें हो गये। एकाएक हाथी से नीचे वे उतर पड़े। विधि-विधान सहित मुनि का वन्दन उन्होंने किया। तब महाराज श्री कृष्णजी अपने महलों में पधारे; और, मुनि ने अपना मार्ग पकड़ा। इसी घटना को एक सेठ ने अपनी आंखों से देखा। श्री कृष्ण वासुदेव जैसे प्रचण्ड प्रतापी महाराजाओं से वन्द-नीय मुनि को निरख आत्मार्थी, मुनि के प्रति, सेठ के हृदय में श्रद्धा का सागर उमड़ पड़ा। तब तो बड़े ही प्रेम से वह अपने घर मुनि को ले गया। उन्हें मोदक उसने बहराये। आज तक कठोर अन्तराय कर्मों के द्वारा, मुनि की परीक्षा हो रही थी। अब समय ने पलटा खाया। मुनि स्वयं ही, आज अपने कठोर कर्मों की जाँच करने के लिए, मैदान में उतर पड़े। भगवान् के पास उन लड्डुओं को लेकर वे पहुँचे। वे बोले, "प्रभुवर! आज छः मास से तो एक चना तक गोचरी में

मुझे नहीं मिला; और आज ये मोदक मुझे प्राप्त हुए हैं। कहिये, ये मेरी स्वयं की लब्धि के हैं, या नहीं ?" "वत्स! यह तो महाराज श्री कृष्ण की वन्दना का कारण है। तेरी लब्धि का यह फल नहीं।" यह सुन कर भी, मुनि का मन ज़रा भी मैला न हुआ। आज पूरे छः मास, कड़ाके करते-करते, उन्हें बीत चुके थे। अभी तक उनके भाव भी कुन्दन के समान शुद्ध और चमकीले निकल चुके थे। उन्हीं लड्डुओं को ले, पास की निर्दोष भूमि पर, उनको चूर कर वे पटकने लगे। मुनि के द्वारा, उन लड्डुओं का चूरना, सचमुच में अपने ही घनघाती कर्मों को चूरना था। आज भगवान् ही की कृपा से, अपनी प्रतिज्ञा के कठोर मार्ग से पतित वे न हो पाये। यही विचार-विचार कर, अपने भाग्य की सराहना वे करते जाते थे। प्रति पल, प्रभु के प्रति, वे अपना आभार-प्रदर्शन करते हुए, बीच-बीच में अपने आप को अनेकों बार वे धिक्कारते भी जाते थे, कि जन्म-जन्मान्तरों में, इस जीव ने अनेकों प्रकार के खाद्य और पय पदार्थों का सेवन किया है; परन्तु अघाया यह आज तक भी नहीं है। यूँ, लड्डुओं को चूरते-चूरते, अपने सम्पूर्ण घन घाती अन्तराय कर्मों का अन्त भी मुनि ने कर दिया उसी क्षण, कैवल्य-ज्ञान ने उन का हाथ आ पकड़ा। बस, मुनि को अपनी कठोर तपस्या का फल मिल गया। अन्त में कैवल्यधाम को वे सिधारे।

कैसे ही कठोर-तम घनघाती कर्म क्यों न हो। तप के बल, सब का एकान्त अन्त किया जा सकता है। यही कारण है, कि तप की महिमा, सभी धर्मों और शास्त्रों ने मुक्त कंठ से गाई है। परन्तु यह तप हमारा सात्त्विक होना चाहिए।

१६

प्रदेशी-राजा

पंजाब की सीमा पर, लगभग सत्ताईस सौ वर्ष पहले, सिताम्बिका [पेशावर] में प्रदेशी राजा राज करते थे। उनकी रानी ' सूर्य-कान्ता ' थी और पुत्र ' सूर्य-कान्त-कुमार '। ' दया ' क्या चीज़ होती है, यह बात, राजा कदाचित जानते भी न थे। वे कट्टर नास्तिक थे। आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप स्वर्ग-नर्क, आदि को भी, वे कोरी कवि-कल्पना ही मानते थे।

चलते हुए मनुष्यों को, अपने मनोरंजन के लिए, खटमल-पिस्सू की भाँति, पीस देना, यह तो उनके बाँयें हाथ का खेल-सा था। उन का हृदय पाषाण से भी अधिक कठोर और तलवार से भी अधिक तीखा था। 'चित्तजी' इन्हीं के बड़े भाई, और राज्य के प्रधान-मन्त्री थे। श्रावस्थि [स्यालकोट] के राजा 'जित-शत्रु' उन दिनों, प्रदेशी के एक-मात्र अभिन्न मित्र थे। राजा-प्रदेशी ने, एक बार अपने मंत्री को, कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ दे कर, जित-शत्रु के यहाँ भेजा। संयोगवश, केशी-श्रमण नामक निर्ग्रन्थ मुनि भी उन दिनों वहीं विराजे हुए थे। मुनि के उपदेश की चारों ओर बड़ी धूम थी। उस को श्रवण करने के लिए, यही कारण था, कि जनता बरसाती नदियों की भाँति उमड़ पड़ती थी। मन्त्री को भी अनायास ही यह मौक़ा मिल गया। 'राजा कालस्य कारणम्' के अनुसार, नास्तिकवाद ने इन से भी अपना नेह और नाता जोड़ रक्खा था। परन्तु लगातार के मुनि के उपदेशों ने मन्त्री की मनोवृत्ति को बदल दिया। अब से आस्तिकवाद के अनुयायी वे बन गये। मुनि से गृहस्थ-धर्म को भी मन्त्री ने धारण कर लिया। साथ ही, "सिताम्बिका में, यदि मुनियों का आगमन हो जावे, तो कट्टर नास्तिक राजा के जीवन को भी, सुपथ की ओर लाया जा सकता है," ऐसी प्रार्थना भी, मन्त्री ने, विनीत-भाव से, मुनि के आगे की। तब मन्त्री सिताम्बिका को लौट गया।

नवनीत बड़ा ही स्निग्ध, स्वादिष्ट और हितकर होता है; परन्तु अपने ही ताप से वह तप जाता है। सन्त-हृदय उस से भी अनोखा होता है। वह तो परायों के ताप ही से दिन-रात तपता रहता है। प्रदेशी के परलोक को सुधारना, मुनि ने

अपना ध्येय बना लिया था। अतः विचरण करते-करते एक दिन वे सितम्बिका भी जा पहुँचे। बाग में निवास उन्होंने किया। जनता, मुनि के दर्शनार्थ उमड़ी। मन्त्री को भी सन्देश मिला। वायु-सेवन के मिस, राजा को साथ ले कर, उधर ही से एक दिन मन्त्री निकले। मुनि के उपदेश का भी वही समय था। "यह हुल्लड़ कैसा?" राजा ने मन्त्री से पूछा। मन्त्री ने, "ये निर्ग्रन्थ मुनि हैं। स्वर्ग-नर्क, आदि में इन की आस्था है; "बदले में राजा से कहा। "जिस बात का अस्तित्व ही जब कुछ नहीं, तो होना तो सम्भव उस का हो ही कैसे सकता है? क्या अपनी पूछी हुई बातों का उत्तर, उचित रूप से मुनि दे सकते हैं?" कहते हुए राजा, मन्त्री को ले कर, मुनि के पास गये। तब राजा और मुनि के बीच, नीचे की बात-चीत हुई—

"क्या, स्वर्ग और नर्क आप की समझ में कोई वस्तु हैं? यदि हाँ, तो मेरे दादा, मुझ से भी अधिक पापी, आप की मानता के अनुसार थे, अवश्य ही नर्क में गये होंगे; और, भाँति-भाँति की नारकीय यातनाओं को भोग रहे होंगे; क्यों नहीं आकर अपने पोते, मुझे पाप से पराङ्मुख कर देते हैं?"

"अपनी रानी के साथ, किसी पुरुष को कुचेष्टा करते हुए यदि तुम देख लो, तो कहो, उस समय तुम क्या करोगे?"

"उसी क्षण, मैं उसे तलवार की घाट उतार दूँगा।"

"यदि अपने कुकृत्य का फल अपने कुटुम्बियों को सुनाने के लिए, एक मिनिट की भी छुट्टी वह चाहे, तो क्या, तुम उसे जाने दोगे?"

"छुट्टी देना तो बहुत परे की बात है। उस की ज़बान पर ये बोल तक मैं न देख सकूँगा। उसी क्षण, मैं उस का काम तमाम कर दूँगा।"

"राजन्! जब एक ही अपराध के करने पर, अपने अपराधी को एक मिनिट-भर के लिए छोड़ना तुम्हें मंजूर नहीं है, तब तुम्हारे दादा ने तो कई पाप किये हैं। नर्क में से उन्हें तो फिर यहाँ आने ही कौन देगा?

"अच्छा महाराज, दादा की बात छोड़िये। मेरी दादी तो आप ही के समान धर्म का पद-पद पर पालन करती थी। आप की भावना के अनुसार, अवश्य ही वह तो अमर-लोक में गई होगी। उसे तो वहाँ से छुट्टी भी मिल सकती होगी। तब वही क्यों न मुझे पाप करने से हटक देती?"

"राजन्! कोई मनुष्य नहा-धोकर सन्ध्या-चन्दन आदि शुभ कृत्य के लिए, यदि जा रहा हो, उस काल, एक मेहतर पाखाने में बात-चीत करने के लिए उसे बुलावे, तो क्या, वह वहाँ जाना पसन्द करेगा?"

"कदापि नहीं, महाराज!"

"यही हाल, बस, तुम अपनी दादी का भी समझो, राजन्! फिर, यहाँ के कई युग और वहाँ के कुछेक क्षण, बराबर होते हैं। वह आवे-आवे, इतने में तो, यहाँ वालों की कई पीढ़ियाँ बीत जावेंगी। तब स्वर्गस्थ-आत्मा आकर यदि कहे भी, तो किसे और कैसे?"

"इस विवाद को भी, अच्छा महाराज! यहीं छोड़िये। एक अपराधी को मैं ने मार कर, लोह-निर्मित एक मज़बूत

कोठी में बन्द कर दिया था। थोड़े ही दिनों के बाद खोल कर देखने से, उस पर असंख्य कीड़े लिपट हुए मिले। वे, बताइये, किस मार्ग से हो कर, वहाँ पहुँचे ?"

"राजन् ! लोहा गर्म करने पर लाल-सुर्ख हो जाता है। बताओ, वह आग उस में किस पथ से हो कर प्रवेश कर गई ?"

"अच्छा मुनिराज, इसे भी यहीं रखिये। हाथी की आत्मा, चींटी में प्रवेश कैसे कर पाती है, यही बता दीजिये।"

"किसी कमरे में एक दीपक जलता है। सारा कमरा प्रकाश पूर्ण उस से रहता है। अब एक बर्तन उस पर ढाँक दो। बस, उसी क्षण, तुम देख पाओगे, कि सारे कमरे का प्रकाश, एक-मात्र उसी बर्तन के अन्दर आ ठहरता है। इसी तरह हाथी की आत्मा के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।"

"क्या, आप हमें आत्मा के दर्शन करा सकते हैं ?"

"राजन् ! बताओ, तुम्हारे सम्मुख, जो वृक्ष है, उसके पत्तों को कौन हिला रहा है"

"वायु।"

"क्या, वायु को तुम देख सकते हो ?"

"नहीं, उसे तो कोई भी देख नहीं सकता।"

"जब ऐसे स्थूल पदार्थ तक को देखने में, संसारी आँखें असमर्थ हैं, तो अरूपी आत्मा को तो वे देख ही कब और क्यों सकती हैं ?"

यों, अनेकों प्रकार का वाद-विवाद राजा और मुनि के बीच हुआ। राजा ने अन्त में हार मानी। उसी क्षण उस के

भावों की दिशा बदली। राजा ने, श्रावक–धर्म को सहर्ष स्वीकार कर लिया। आज से राज्य की आमदनी का एक चौथाई भाग, अनाथ और अपाहिजों के अर्थ खर्च होने लगा। धर्म में अभिरुचि उन की दिनों-दिन बढ़ती ही गई। अब, धर्म उन के प्रत्येक व्यवहार और व्यापार की वस्तु थी। राज-पाट और राज–परिवार से भी अब धीरे–धीरे उन का मोह कम होता जाता था। विषयानन्द के कीड़ों को पारमार्थिक बातें हलाहल विष के समान लगती हैं। रानी को राजा की ये हरकतें बड़ी ही अखरीं। उस ने सोचा, "अब राजा न तो राज-कार्य में ही मन लगाते हैं; न शासन–सूत्र ही मेरे पुत्र के हाथों देते हैं; और, न मेरी ही सुधि अब वे लेते हैं। इस से तो यही श्रेयस्कर है, कि राजा को भोजन में ज़हर देकर, रोज़ की इस खट-खट का खातमा सदा के लिए कर दूँ।" रानी ने अपने मनसूबे को कार्य का रूप देना निश्चित कर लिया।

उधर, राजा अपने श्रावक-धर्म का यथा-विधि पालन कर रहे थे। अब तक बारह बेलों की तपश्चर्या वे कर चुके थे। तेला की तपश्चर्या उन्हों ने शुरू की थी। पारणे के दिन, हलाहल विष–युक्त भोजन रानी ने उन्हें दे दिया। इस बात का भेद भी उन पर प्रकट हो गया। रानी की कुत्सित करणी के लिए, फिर भी, रंच–मात्र तक द्वेष उन के दिल में न आया। इस के विपरीत, क्षमा-भाव को धारण करते हुए, समाधि–संथारा–उन्हों ने ले लिया। एक ही जन्म के बाद मनुष्य योनि में पुनः आने, और उस के द्वारा आत्म-कल्याण कर, मोक्ष-धाम को सिधारने के हेतु, यहाँ के लोक की लीला-संवरण कर, सूर्याभदेव के रूप में जा कर के वे पैदा हुए।

१७

संयति राजा

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले, काम्पिल नगर के महाराज 'संयति' एक बड़े ही विशाल राज्य के स्वामी थे। नाम तो इन का संयति था; परन्तु काम उनके एकदम विपरीत थे। अर्थात् अपने नाम के नाते, प्राणी-मात्र की रक्षा करने के बदले, प्राणियों का, खेल-ही-खेल में, प्राण हरण करना ये अपना राज-धर्म और राज पद की प्रतिष्ठा की शान सम-

झते थे। रात दिन शिकार में रत वे रहते। क्षत्रिय हो कर भी, अभय-दान वे किसी को न देते थे। सार्थी भी इन के परले दर्जे के खुशामदी और स्वार्थी थे। प्रीति तो उन की राजा और राज्य दोनों में थी; पर थी वह भय के कारण। थोड़े में,

"सचिव, वैद, गुरु, तीनि जो; प्रिय बोलहिं भय-आस।
राज, धर्म, तन तीनि कर; होइ वेगही नाश॥"

वाले सारे साधन वहाँ आ जुटे थे। वे सदैव ठकुर सुहाती बातें राजा को कहते। अतः सत्य से, राजा, कोसों दूर थे।

एक दिन संयति सैर-सपाटे को निकल पड़े। जंगल में प्रवेश करते ही, एक हिरन का पीछा वे करने लगे। बेचारा हिरन प्राण छोड़ कर भागा। आखिरकार, केशरी नामक वन में घुसते-घुसते, राजा ने उसे तीर मार ही दिया। काल के मुँह में जाकर भी, प्राणी, प्राणों की रक्षा ही का उपाय सोचता है। हिरण बाण-विद्ध था। तब भी दौड़ता गया। और, भागते-भागते, तपोधनी गृद्धभाली मुनि के स्थान पर, जहाँ वे ध्यानस्थ खड़े थे, धड़ाम से धरती पर गिर कर, उस ने अपने प्राण छोड़ दिये। संयति के भी संस्कार आज बदलने वाले थे। वैसे ही समय, साधन और साथी उसे आ मिले। राजा तो हिरन के पीछे पहले ही से लपक रहे थे। मुनि के निकट मरा पड़ा उसे देख मुनि का पालतू मृग उसे माना। अब तो ऋषिवर के श्राप की आ शंका कर, एड़ी से पैर तक पसीना उन के आ गया। इस के लिए, अनेकों प्रकार के आत्म-धिक्कार के शिकार भी वे, मन ही मन बने। अपने कृत अपराध की क्षमा के लिए अश्व की पीठ से वे उतर पड़े। मुनि के निकट जा क्षमा-याचना भी उनने की। परन्तु

मुनि डर से मग्न भी न हुए। क्योंकि, वे ध्यान-मग्न थे। तब तो राजा, मुनि के पूर्ण आवेश की आशंका कर, और भी घबरा उठे। जान-बूझ कर काल को आमंत्रित करने की बात, उन के सम्मुख बार-बार अपना ताण्डव नृत्य दिखाने लगी। इतने ही मुनि ने अपना ध्यान खोला। वे राजा से बोले- " राजन् ! डरो नहीं। मेरी ओर से तुम्हें अभय रहना चाहिए। मुझे देख, जिस प्रकार भय तुम्हारे मन में घुस बैठा है, तुम्हारे वन में प्रवेश करते ही, सम्पूर्ण बनैले पशु भी, ठीक उसी प्रकार भयभीत हो उठते हैं। मेरे द्वारा अभय-दान से जिस प्रकार तुम्हें सुख पहुँचा है, वैसे ही, तुम भी सम्पूर्ण वनचरों को अभय-दान प्रदान कर, सदा के लिये, सुखी उन्हें बना सकते हो। राजन् ! ये सारे ठाट-पाट यहीं के यहीं धरे-पड़े रह जावेंगे। क्योंकि, जीवन अनित्य है; क्षण-भंगुर है: चपला के समान चंचल है। हिंसा और राज्य की यह आसक्ति तो, तुम्हें और भी चौपट्ट किये दे रही है। कभी पर-लोक का विचार भी करते हो, या नहीं ? जगत् के सम्बन्ध, सम्पत्ति, और सुख का परलोक से ज़रा भी सम्बन्ध नहीं है। " परम तपस्वी मुनि के अमृत पूर्ण वचनों को सुन कर, राजा के विचारों में एकाएक खल-बली मच गई। उन्हें अपने संसारी ऐश्वर्य, सुख, और सँघातियों का, अभी तक, बड़ा ही अभिमान था। परलोक के सम्बन्ध में वे आज तक बे खबर थे। संसार से उनका मन फिर गया। अच्छे काम में देर करना उन्होंने अपराध समझा। अपने नाम को सार्थक करते हुए, तब तो उसी क्षण, वे संयति राजा से, संयति मुनि बन गये। यत्र-तत्र विचरण वे अब करने लगे।

समानुपात के द्वारा, उन की सम्पत्ति का हिसाब लगाया जा सकता है। वीर प्रभु के उपदेशों का क़रारा असर उन पर पड़ा। अपने बड़े पुत्र को सारा अधिकार सौंप, गृहस्थ-धर्म को अंगीकार उन्हों ने कर लिया। और, प्राण-प्रण से उस के पालन का प्रयत्न वे करने लगे। अब धर्म उन का था और वे धर्म के। उन के रोम-रोम से धर्म की ध्वनि निकलती थी। बड़े–बड़े देवताओं तक को, उन्हें अपने धर्म से डिगा ने की हिम्मत नहीं होती थी।

संसार अनादि है। अनादिकाल से सज्जनों की स्वर्ण–परीक्षा यहाँ होती आई है। परन्तु होती वह उन को कुन्दन बनाने के लिए है। कामदेवजी को भी इस तंग घाटी में से हो कर निकलना पड़ा। चतुर्दशी का दिन था। पौषधशाला में, पौषध-व्रत को धारण कर, कामदेवजी ध्यान में मग्न हो रहे थे। आधी रात का समय हुआ। एक मिथ्यात्वी देव ने, भयंकर पिशाच का रूप धारण कर, कामदेवजी की अग्नि-परीक्षा, उस समय, करना चाही। भाल पर उस के सलवट पड़ी थीं। दाँत को कड़कड़ाते हुए, लपलपाती दुधारी तलवार को हाथ में ले, वह उन के सम्मुख आ खड़ा हुआ। और, बोला,—"कामदेव! मोक्ष के लिए धर्म की आराधना तेरी बड़ी ही सराहनीय है। प्राण रहते इस का पालन करना, तेरा कर्तव्य भी है। परन्तु आज यदि तू अपने पथ से न डिगा, तो इस लपलपाती हुई विकराल तलवार के घाट तुझे मैं उतार दूँगा। परन्तु धर्म-प्राण कामदेवजी के लिए, यह धमकी कुछ भी न थी। मचले हुए बालक की माँग से उस का मोल ज़रा भी अधिक, उन के लिए, न था। वे अपने ध्यान में अडिग थे।
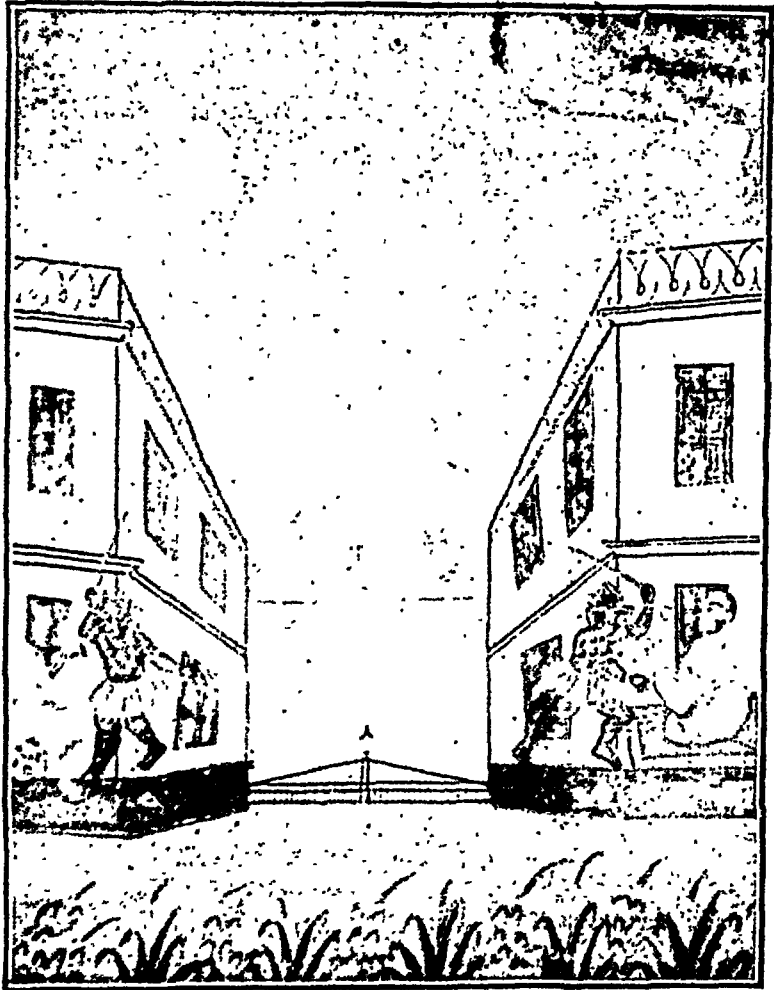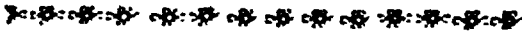
कामदेवजी को जैन धर्म से पतित करने के लिये देवता भयंकर रूप धारण कर तलवार से उनके अङ्गोपाङ्ग का खंडन कर रहा है।

उन्हें निश्चिन्त और निश्चल जान, वह उन पर टूट पड़ा। टुकड़े-टुकड़े, उन के उस ने बात की बात में, कर दिये। कामदेवजी ने हंसते-हंसते उस प्राणान्तक परिषह को सह लिया। यह सब कुछ उन्हें सहन था। परन्तु धर्म को छोड़ना, उन के गृहस्थ-धर्म की तौहिन थी। अपने सत्य-धर्म के प्रबल प्रताप से, उस क्रूर-कर्मा देव ने; कामदेवजी को पुनः अपने पहले ही रूप में, वहाँ देखा। अब तो उस के क्रोध का पारा और भी चढ़ गया था।

इस बार मत्त मातंग का रूप उस ने धारण किया। और, कामदेव जी का काम तमाम करने के लिए,उन की ओर लपक पड़ा। सूँड से उन्हें धर-पकड़ा; और आकाश की ओर, बहुत, ऊँचे पर, उन्हें फेंक मारा। गिरते-गिरते उन्हें अपने बड़े ही पैने दन्त शूलों पर उन्हें झेला। यों, उन के शरीर को छिन्न-भिन्न कर, पैरों तले उन्हें रौंध मारा। इस से उन्हें जो भी असह्य वेदना हुई। परन्तु कष्ट-सहिष्णुता ने उन की काया का साथ न छोड़ा। उन का निश्चय सागर के समान गम्भीर था। हिमालय के समान वह अटल था। और, मन्दराचल के समान वह गुरु था। कुछ ही देर के बाद, वे अपने स्थान पर ज्यों के त्यों बैठे थे। यह देख, काल के समान विकराल, वह देव अब बन गया।

उग्र-विषधारी सर्प का रूप उस ने धारण किया। कामदेवजी के सीने पर वह चढ गया। एक विषैला डंक उस ने उन्हें मारा। वेदना भी इस से उन्हें असीम हुई। फिर भी, धर्म को छोड़ने के लिए तो वे स्वप्न में भी तैयार न थे। उस मिथ्या-

त्वी देव ने कुछ ही क्षणों के बाद, कामदेवजी को फिर वैसे ही स्वस्थ देखा, जैसे कि वे पहले थे। यों, एक के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा, कई असह्य वेदनाएँ, उस देव ने उन्हें दीं। परन्तु कामदेवजी अपने प्रण के पथ से एक तिल-भर भी विचलित न हुए। क्योंकि, वे खरा सोना थे। ज्यों-ज्यों तपाये वे गये, दूनी-दूनी दमक उन के चेहरे पर आती गई। अन्त में, कुन्दन हो कर, वे जगत् के सामने आये। देव की दुष्कृतियों का दिवाला खसक गया। उसने अपनी हार मान ली। उसे स्वीकार करना पड़ा, कि "कामदेव दृढ़-धर्मी और प्रतिज्ञा-वीर हैं। मैं तो हूँ ही किस वाग की मूली! स्वयं इन्द्र, देव-राज इन्द्र भी कामदेव को अपने धर्म-पथ से भ्रष्ट करना चाहें, तो वे कर नहीं सकते।" तब तो अपना दिव्य देव-रूप उस ने प्रकट किया। और, बोला,-"कामदेव! तुम मनुष्य-जाति के गौरव हो। तुम्हारा नर-देह सफल है। धर्म-धारी कोई हो, तो तुम्हीं जैसा। संकटों का पहाड़ तुम पर टूटा। किन्तु एक इंच भी अपने पथ से तुम न डिगे। शकेन्द्र ने एक दिन भूरि-भूरि प्रशंसा तुम्हारी की थी। उसी समय, तुम्हारी दृढ़ता में मुझे सन्देह हुआ। उसी मन-मलीनता से अग्नि-परीक्षा आज मैंने तुम्हारी ली। परन्तु वह तुम्हीं थे, जो उस में सफल हो पाये। नहीं-नहीं, सर्व-प्रथम जो ठहरे।" अन्त में, देव ने अपने कृत अपराध के लिए वार-वार क्षमा-याचना, कामदेवजी से की। और, अपने स्थान को वह लौट पड़ा।

कामदेवजी निरुपसर्ग हुए। भगवान् महावीर भी उन दिनों वहीं पधारे हुए थे। अपने पौषध-व्रत से निवृत्त हो, कामदेव जी, भगवान् की शरण में पहुँचे। धर्म-कथा के उपरान्त, सर्वज्ञ

भगवान् ने, विगत रात में जो-जो घटनाएँ कामदेवजी पर घटीं, सब की सब, कामदेवजी को कह सुनाईं। फिर प्रभु ने समस्त साधु-साध्वियों को, जो वहाँ मौजूद थे, बुलाया। "गृहस्थ-धर्म में रहते हुए भी, असह्य और असीम कष्ट को कामदेवजी ने सहन किया है। यह सब कुछ हुआ। परन्तु धर्म को रंच-मात्र भी इन्हों ने नहीं छोड़ा। सभी गृहस्थों को ऐसे ही आदर्श मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। साधु-साध्वियों का तो यह प्रधान कर्तव्य है ही।" आदि बातों को, सब के सम्मुख, प्रभु ने कहीं। सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा को लोकोपकारक और भव-भय-विदारक मान कर, सभी ने एक स्वर से उसे अंगीकृत किया।

यूँ कामदेवजी काल-यापन करते हुए, अन्त के समय, एक महीने का सन्थारा ले, इस संसार से, प्रथम देव-लोक में जा विराजने, और वहाँ से महा-विदेह-क्षेत्र में जा कर जन्म धारण करने, तथा अपने देवोपम सुकृत्यों के द्वारा, सदैव के लिए मुक्ति में जा मिलने के हेतु, प्रस्थान ले कर गये।

अपने आत्मीय धर्म का सम्पूर्ण रूप से पालन करने ही में सच्चा कल्याण है। मनस्तोष का भी यही राज-मार्ग है। आत्मीय धर्म का पालन, स्वर्ग का सोपान है। यही निर्वाण-पथ का पाथेय है। इस महौषधि का सेवन करते ही, भव-भय का रोग, बात की बात में भाग जाता है। और, आत्म-कल्याण की प्राप्ति का तो यह एक अचूक साधन ही है।

१९

सेठ-सुदर्शन

कुछ कम ढाई हज़ार वर्ष पूर्व, विहार-प्रान्त की चम्पा नगरी में महाराज दधिवाहन का राज्य था। वहाँ सुदर्शन नाम के एक सेठ भी रहते थे। करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति के स्वामी वे थे। एक से एक अधिक सुन्दर, चार पुत्र उन के थे। यों, सेठ धन और जन दोनों से भरा-पूरा था। नगर के राज-पुरोहित से सेठजी का घनिष्ट प्रेम था। जैसे नीर और नदी का सम्बन्ध

है; प्राण और शरीर का अन्योन्य सम्बन्ध जैसे है; सेठजी और पुरोहित जी की मित्रता भी ठीक वैसी ही थी। किसी कारण-वश पुरोहित जी एक दिन कहीं गये हुए थे। पुरोहितानी के मन में बुरे भाव समाये। पुरोहितजी की इस अनुपस्थिति में, पुरोहितानी ने, सेठजी के इस प्रेम का अनुचित उपयोग लेना चाहा। अपनी पाप-भरी मनोवृत्तियों की पूर्ति उस ने उस समय करना चाही। यह कह कर, कि "पुरोहित जी को बुख़ार ने आज ज़ोरों से पकड़ रक्खा है," दासियों के हाथ सेठजी को उस ने बुला भेजा। उधर, वह स्वयं बुख़ार का बहाना कर के, पुरोहितजी के बिछौने पर, जा सो रही। सेठजी को बुला कर, यहाँ से रफ़ू-चक्कर हो जाने का आदेश, दासियों को उस ने पहले ही दे रक्खा था। सेठ जी वहाँ आये। दासियों ने अपना रास्ता पकड़ा। बेचारे सेठजी एक ही गाँव के रहने वाले थे। उस पापाभिसन्धि का रत्ती-भर भी पता उन्हें न लगा। बिछौने के पास आ कर, ओढ़ने को अलग उस ने किया। और, पुरोहितानी को सोई हुई देख, वे अलग जा खड़े हुए। वे चकित हो कर पूछने लगे, "अजी! कहाँ है पुरोहित जी? कैसी है उन की तबियत अब?" पुरोहितानी ने सेठजी का हाथ पकड़ा। और, अपने मन की बात उस ने उन से कही। सेठजी, धर्म-भीरू थे। 'पर-दारेषु मातृवत्' का पाठ, उन्हें उन की जन्म-घुटी के साथ, पालने ही में पढ़ाया गया था। एक पत्नि-व्रत के उपासक वे थे। पुरोहितानी की पाप-भरी बातों ने सेठजी के हृदय की गति को स्तम्भित कर दिया। कानों पर उन्हों ने हाथ दे दिये। वे उसे भाँति-भाँति का बोध देने लगे। परन्तु-"कामातुराणां भयं न लज्जा।" चिकने घड़े

पर पानी की बूंदों की तरह, सेठजी की उपदेश-भरी बातें, पुरोहितानी के हृदय को ज़रा भी न लगीं। सेठजी को, अपने प्रबल प्रयत्नों से, जब वह रिझा न सकी, उन्हें पुरुषत्व-हीन समझ, अपने मकान से बाहर उस ने निकलवा दिया। सेठजी ने अपने भाग्य को सराहा। और, मन ही मन, अपनी वाक्-चातुरी की प्रशंसा भी उन्हों ने खूब ही की।

एक दिन सेठानी अपने चारों पुत्रों को ले, किसी महोत्सव में जा रही थी। रानी अभया उस समय राज-महल के झरोखे में बैठी हुई थी। पुरोहितानी भी उसी के निकट उस समय थी। पड़ौस में बैठी हुई पुरोहितानी से, उस का परिचय रानी ने पूछा। पास की एक दासी बीच ही में बोल उठी, "सुदर्शन सेठजी की यह स्त्री है। चारों बालक, जो साथ में हैं, वे भी इसी के हैं।" पुरोहितानी ने इसे सुन कर, बुरा-सा मुँह बनाया। रानी ने तब तो इस का भेद उस से पूछा। पुरोहितानी पहले तो मौन-सी रही। पर बार-बार पूछने पर, मुँह-बनाते हुए, अपने हृदय को खोल कर, उसने रानी के आगे रख दिया। सेठ जी के पुरुपार्थ-हीनता की पोल उस ने पूरी-पूरी खोल दी। रानी ने बीच ही में उस की बात को काट, सेठजी के पुरुपत्व की दुहाई उस को दी। इतना ही नहीं, ऊपर से, उसी के चातुर्य की हीनता भी उस ने बताई, जिस के कारण, सेठजी को वह अपना न कर सकी थी। तदुपरान्त, उस ने उन्हीं सेठजी को अपने हिये का हार बना लेने की प्रतिज्ञा भी की।

कुछ दिनों के बीत जाने पर, दासियों के द्वारा, रानी ने,

कुम्हारों से, सेठजी की हू-बहू-प्रतिकृति का, मिट्टी का एक पुतला बनवाया। पर्दे की ओट में, रानी के इष्ट-देव की मूर्ति के रूप में, नित्यप्रति, राज-महलों में, वह लाया जाने लगा। पहरे-दारों को यह बात भली प्रकार से दासियों ने समझा भी दी। तब भी यदा-कदा रोक-टोंक वे करते ही। इस पर, दासियाँ, अपनी स्वामिनी के पूर्व आदेशानुसार, उस मिट्टी के पुतले को वहीं फोड़-फाड़ कर चलती बनतीं। दो-चार बार यूँ किया जाने पर, पहरे दारों का सन्देह जड़ से चला गया। आगे चल कर, पहरे दारों की ओर से ऐसी कोई भी हरकतें न हुईं, जिस के कारण, सेठजी के पुतले को फोड़ने का मौक़ा आता। अस्तु।

एक बार, चतुर्दशी का दिन था। नगर के सभी नर-नारी, नगर के बाहर, किसी महोत्सव को मना रहे थे। परन्तु सेठ जी पौषधशाला में पौषधव्रत को धारण कर के, ध्यानस्थ बैठे थे। रानी ने इस अवसर का सदुपयोग कर लेना चाहा। अपनी दासियों को आज्ञा उस ने दी। पुतले के बदले, आज स्वयं सेठजी ही को उठा उस ने मँगवाया। रानी ने, तब तो, अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए, जितने भी उचित तथा अनुचित उपाय करना चाहिए थे, किये। साथ हीं यह शर्त भी अन्त में उस ने रखदी थी, कि यदि सेठजी इस दिशा में असफल रहे, तो उन के जीवन का तत्काल ही अन्त कर दिया जायगा। सांसारिक सुख, सम्पत्ति एवं सम्पूर्ण सक्रिय साधन, सेठजी के इशारों पर नाचने के लिए आज उपस्थित थे। पर सेठजी के आगे, वही अपना एक-पत्नी-व्रत प्रण था। "मातृवत् पर दारेषु; लोष्ट-वत् पर-धनेषु च," का नैतिक सिद्धान्त,

उन के दिल और दिमाग का क्रीत-दास था। उन्हों ने हँसते-हँसते मौत को आलिंगन करना ही उचित समझा; परन्तु अपने प्रण से पराङ्मुख होना, अनुचित और अश्रेयस्कर माना। रानी, जब किसी भी प्रकार से सेठजी को अपने पक्ष में न कर सकी, चिल्ला उठी। पहरे दारों को पुकार कर उस ने कहा, "दौड़ो! दौड़ो!! अपनी पाप-मयी भावनाओं की पूर्ति के लिए, यह पापी, दुराचारी सुदर्शन, मेरे महलों में घुस आया है! क्षण-मात्र ही की देर, मेरे सतीत्व को सन्देह में पटक देगी!!" यह सुनते ही पहरेदारों ने उन्हें धर-पकड़ा। महाराजा के सामने उन्हें पेश किया गया। राजा के क्रोध की सीमा न रही। उसी क्षण, शूली पर उन्हें चढ़ा देने की राजाज्ञा हुई। नगर में हाहाकार मच गया। सेठजी के शील-व्रत की दशों दिशाओं में धाक थी। आकाश को गुंजा देने वाली जनता की ओर से एक आवाज़ उठी। परन्तु राजा के दिल पर झूठ ने अपना दृढ़ शासन जमा दिया था। सभी प्रार्थनाएं बेकार हुईं। नियत स्थान पर उन्हें लाया गया। प्राण-नाश की हानि, सेठजी के हृदय को कंपाने के बदले हँसा रही थी। अपनी सत्यता और शील-व्रत की बाल-बाल रक्षा के कारण, एक दिव्य आभा, उन के चेहरे पर चमक उठी थी। नव-कार महा-मन्त्र का स्मरण उन्हों ने मन ही मन किया। बस, एक क्षण-भर ही की देर और थी। इतने ही में एक दैवी घटना घटी। शील-रक्षक देव ने शूली के स्थान पर, सिंहासन उन के लिए बना दिया। दशों दिशाओं से उमड़ी हुई जनता की अपार भीड़ और राज-परिवार ने, इस चमत्कार को अपनी आँखों से देखा। राजा के न्याय और नीति का आसन हिल उठा। अब तो पहरे

दूतों से भी न रहा गया। रानी के बनावटी इष्ट-देवता की सारी राम-कहानी राजा के सामने रक्खी गई। दासियों के दूतीपन और रानी के शील का सारा भण्डा फूट गया। सेठजी के चरणों में पड़ कर, राजा ने क्षमा-याचना की। सेठजी के सत्य की सोलह आना जय हुई। उन का यश-सौरभ और भी फूट पड़ा। संसार ने प्रत्यक्ष देखा और माना, कि बड़े से बड़ा सांसारिक बल भी अणु मात्र आत्मिक बल के आगे भी कुछ नहीं-सा है। सेठजी के इस व्यापार से, अनेकों की, अकथनीय आत्मोन्नति हुई। आगे चल कर, वे भी सत्पथ के पथिक बने।

२०

ललितांग-कुमार

आज से लगभग सत्ताइस सौ वर्ष पूर्व, इसी परम पावन भारतवर्ष की 'श्रीवास' नामक नगरी में, नर-वाहन नामक राजा राज करते थे। कमला इनकी पटरानी थीं। कमला की कोख से ललितांग-कुमार का जन्म हुआ था। कुमार राजनीति के नेता थे। विद्या और बुद्धि तो, मानो उन के इशारों ही पर चलती थीं। धर्म का रंग उन पर उनके गर्भवास ही से

चढ़ा था। परोपकार करना, अपने क्षत्रियत्व की शान वे समझते थे। कुमार के एक मित्र का नाम 'सज्जन' था। परन्तु करणी से था वह दुर्जन। कुमार के सद्गुणों का वह स्वभाव ही से शत्रु था। अपने सद्गुणों को छोड़ देने के लिए, समझाता भी वह उन्हें खूब ही था। परन्तु कुमार का मन पक्का घड़ा था। सज्जन के बोल की लाख, उस पर किसी भी तरह लग न पाती। वह सदैव उन्हें समझाता, कि "कुमार की दान-वीरता, आये दिनों, कभी उन्हें ले बैठेगी। और भले का नतीज़ा सदा बुरा ही होता है।" यों, दोनों का व्यवसाय ज़ोरों पर था। कुमार अपनी करणी का क़ायल था; तो सज्जन को अपनी सड़ी हुई समझ का मर्ज़ सख़्ती से सता रहा था। अच्छे का फल अच्छा ही होता है; और बुरे का नतीज़ा आख़िर बुरा। कुमार का इस बात पर अटल विश्वास था।

एक दिन कुछ दीन-दुखी लोग कुमार के निकट आये। उन्हें अपना रोना-गाना उन्होंने सुनाया। कुमार, करुणा की मूर्ति तो पहले ही से थे। उन का कलेजा थर्रा उठा। बहु-मूल्य हीरे की अँगूठी, अपने हाथ में से निकाल कर, उन्होंने, उन्हें दे दी। कुमार को नीचा दिखाने और उन्हें अपने पथ से भ्रष्ट करने का, सज्जन ने यह सुसंयोग पाया। वह दौड़ कर राजा के पास गया। और कुमार की राई-भर करणी को, पर्वत के समान राजा के सामने रक्खी। राजा ने, इस पर से, कुमार को बुला कर डाटा-डपटा; और भविष्य के लिए उन्हें आगाह भी कर दिया। कुमार, माता-पिता के भक्त थे। भविष्य में, पिता की आज्ञा को यथा-सम्भव पालन करने का उन्होंने कहा।

अब तक कुमार की दान-वीरता, राजा की दानवीरता से

भी अधिक बढ़ चुकी थी। समय पाते ही चारों ओर के दीन-दुखी लोगों का ताँता-सा कुमार के पास उमड़ पड़ता। यथा-समय कुमार भी उन की उचित सहयता कर ही देते। परन्तु, उस दिन से, पितृ-भक्ति बीच में आ कर, यदा-कदा बीच-बिचाव करने लग पड़ती। कुमार का कलेजा, इस से, काँप-सा उठता। सज्जन को साथ लिये, कुमार एक दिन सैर-सपाटे को जा रहे थे। मार्ग में, मुसीबत के मारे कुछ मनुष्यों ने, कुमार को आकर घेर लिया। पिता की आज्ञा का पालन करते हुए, कुमार ने यथा-सम्भव, उन की सहायता की। परन्तु उनकी इच्छा-पूर्ति आज न हुई। यह देख, कुमार से वे बोले, "कुमार की दान-शीलता लोक-प्रसिद्ध है। परोपकार, आप का पूरे रूप से प्रसिद्धि पा चुका है। क्षत्रिय होने के नाते भी, हम दीन-अनाथों का दुःख दूर करना, आपका प्रधान कर्तव्य हो जाता है। लाखों की लक्ष्मी, अभी तक, आप लुटा चुके हैं। आज हमारे ही लिए कुमार को कोर-कसर क्यों? लाख-लाख बार कलाओं का काट-छाँट हो, चन्द्रमा अपनी शीतलता को छोड़ कर, उष्ण तो कभी होता ही नहीं। करुणा का शूर-वीर, रणांगण को पीठ दिखाना तो कभी सीखा ही नहीं।" दुखियाओं के इस आर्त्त-नाद ने कुमार के दिल को दहला दिया। कृत्रिम उपायों से, नैसर्गिक दानवीरता की आँधी रुक भी तो कब तक सकती थी। आवेश में आकर, कुमार ने अपने गले का हार उतार, उन्हें दे दिया। सज्जन की ईर्षा और भी उबल उठी। राजा के पास, अगौऊ बन कर, उलटे पैरों वह दौड़ पड़ा। राजा ने, कुमार के हृदय को बिना टटोले ही, उन्हें देश-निकाला दे दिया। किंचित् भी क्लेश और कल्मष, कुमार के मन में इस से न

हुआ। पितृ-भक्ति के ज्वलन्त उदाहरण, कुमार, पिता की आज्ञा को सिर पर धारण करते ही वन।

सज्जन भी साथ में था। चले-चले दोनों बीयाबान वन में पहुँचे। सज्जन बोला, " कुमार! अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। अपनी आदत से अभी भी बाज़ आ जाओ। राज्य तुम्हारा, और तुम्हारे बाप का है। राजा आज भी तुम्हें क्षमा-प्रदान कर सकते हैं। " कुमार बोले, " सज्जन! जिस को जो बात मीठी लगती है, लाख कड़ुवी होने पर भी, वह उसे मीठी ही लगती है। आम, बसन्त ऋतु को देख कर ही बौराते हैं। पीउ-पीउ की रटन करता हुआ, प्यासा पपीहा, मरते-मर जाता है: परन्तु स्वाँति की अमृत बूँदों को छोड़, अन्य पानी को वह कभी छूता तक नहीं। संसार के सम्पूर्ण जलाशय उस के लिए केवल मरुभूमि ही हैं। तब तो मनुष्य बन कर भी अपने मार्ग से मुझे भटक जाना ही क्यों चाहिए!"

" भले का भला और बुरे का बुरा नतीज़ा होता है, यदि यही बात है, तो चलें, इस का निर्णय किसी से करवालें। और, इस पर, यदि तुम्हारी हार हो गई, तो अपना अश्व, आभूषण और वस्त्र, सब के सब, मेरे हवाले, तुम्हें कर देना पड़ेंगे। " सज्जन ने बदले में कहा। कुमार ने खुशी-खुशी, " हाँ" कहा।

चले-चले अब दोनों एक गाँव में पहुँचे। एक जगह पाँच-दस आदमियों का मजमा जमा था। सज्जन ने उन से पूछा, " कहो भाई, क्या, भले का बदला भला होता है, या बुरा?" " बुरा, बुरा, " चारों ओर से आवाज़ आई।

कुमार-" कैसे ? "

लोग—' हमारे राजा, एक वार यहाँ आये। हृदय खोल कर हम ने उन का स्वागत किया। उन्होंने हमें सधन समझा। जाते-जाते, हमारे खेतों पर का टैक्स ही वढ़ा गये। यों, भलाई का वदला, बुराई से हमें मिला। "

सज्जन के सिद्धान्त की जीत हुई। प्रतिज्ञा के अनुसार, कुमार ने अपना अश्व, आदि सज्जन को सौंप दिया। सज्जन घोड़े की पीठ पर जा चढ़ा। दिनों का मारा राज-कुमार, एक चरवाहे के रूप में, सज्जन के साथ, अब चल रहा था। अपने सिद्धान्त के समर्थन में, अनेकों ताने, चलते-चलते, सज्जन, कुमार पर कस रहा था। परन्तु कुमार को अपने अरमान की अड़ थी; और सज्जन अपने सिद्धान्त के सन्निपात का सताया हुआ था।

थोड़ी दूर चल चुकने पर, " यदि अब भी तुम्हें अपने अरमान की अड़ वैसी ही है, तो चलो, एक वार अपने भाग्य की आज़माइश और कर देखो। और, इस वार भी हार जाने पर, अपने दोनों नेत्र, तुम्हें मुझे निकाल कर दे देने पड़ेंगे। " यूँ, सज्जन ने कुमार से कहा। सज्जन ने इस पर भी अपनी स्वीकृति दे दी।

मनुष्यों की खोज में, चलते-चलते, वहुत दूर निकल गये। एक विशाल वट वृक्ष के निकट वे पहुँचे। वहाँ कुछ मनुष्य वैठे हुए थे। उन्हीं से अपने प्रश्न के निर्णय का निश्चय किया।

कुमार की अग्नि-परीक्षा अभी होना वाक़ी थी। सज्जन ने पहले ही का प्रश्न उन मनुष्यों के सामने भी रक्खा। कुमार

की दृढ़ प्रतिज्ञा की परीक्षा के हेतु, उन मनुष्यों ने भी, " भले का बदला बुरा ही होता है; भला तो कभी भी नहीं । देखो, अभी एक राजा आया था, और उसने इसी वट वृक्ष के नीचे विश्राम लिया। पर जाते समय अपने नौकरों को हुक्म देता गया कि हाथी के खाने के लिए पत्ते इसी वट वृक्ष के लाये करो। इस बार भी सज्जन ही का सिर ऊंचा रहा। पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार, अपनी दोनों आँखें, एक पैने उस्तुरे से निकाल कर, कुमार ने सज्जन के हाथों सौंप दीं नेत्रों को लेकर सज्जन चलता बना। कुमार का मन-मानस, इस बार भी आनन्दो-होलित था। क्यों कि, अपनी अग्नि-परीक्षा में भी वह खरा सोना निकल आया था। सज्जन ने जाते-जाते भी तानाकशी उस पर की। वह बोला, "अच्छा, भलाई करने के नाते, अब जन्म-भर रोते रहना।"

कुमार को, उस सुन-सान जंगल में बैठे-बैठे, शाम हो आई। परोपकार ही एक मात्र उस का पथ प्रदर्शक अब था। शाम होते ही, हंसों का एक झुंड, बासे के लिए, उस विशाल वट वृक्ष पर, आकर बैठा। विश्रान्ति के समय, एक युवक हंस अपने टोले से बोला, " हम खाते तो असली मोती हैं; पर बदले में मनुष्य-समाज का उपकार क्या करते हैं! कुछ भी नहीं।" " नहीं कदापि नहीं ? जानकार लोग हमारी बीठ का उत्तम और अवर्णनीय उपयोग ले सकते हैं। इसी वट वृक्ष पर जो लता यह लगी हुई है, उसके पत्तों का स्वरस और हमारी बीठ का मिश्रण, नेत्र-हीन को नेत्र देता है। वही जन्मान्ध को दिव्य ज्योति प्रदान करता है। परोपकार-बुद्धि से, कोई उपयोग तो उसका ले कर कभी देखे !" पहले

की बात काट कर, बीच ही में एक दूसरा हंस बोल उठा। नींद, अब,कुमार से कोसों दूर थी। कुमार के रोम-रोम ने हंसों के इस संवाद को सुना था। रात तो ज्यों-त्यों कर के काटी। दिन के निकलते ही, लता और बीट की खोज की। मिश्रण तैयार हुआ। अंजन के आखों में जाते ही, कुमार को दिव्य ज्योति प्राप्त हो गई। थोड़ा-सा मिश्रण और तैयार कर लिया गया। लोकोपकार की सुन्दर भावनाओं के साथ, कुमार ने अब बस्तियों की राह ली। There is a place at the top." जो वस्तु, जिस के योग्य होती है, अवश्य ही उसे आकर मिल जाती है। फिर सौदा भी संसार में बराबर ही का होता है। स्वार्थ-त्याग भी, उस के लिए वैसा ही होना चाहिए। कुमार का स्वार्थ-त्याग, परोपकार के पथ में, अपने समय का, बे जोड़ था। कुमार के पथ में जो भी संकट आकर पड़े, जान पड़ते थे सचमुच में वे बड़े ही महँगे; परन्तु आगे चल कर उन की सस्ताई का पता संसार को लगा।

चलते-चलते चम्पा नगरी में वह पहुँचा। उन दिनों, महाराज जित-शत्रु वहाँ के राजा थे। महारानी का नाम श्रीकान्ता था। कुसुमावती उन की पुत्री थी। पर थी वह नेत्र-हीन। यही कारण था, कि अभी तक उस के साथ, कोई विवाह तक करने को राज़ी न था। वर की खोज में, आज-कल-परसों करते, वर्षों बीत चुके थे। परन्तु सारा प्रयत्न बेकार था। इसी घोर दुःख की चिन्ता के मारे, सारा राज-परिवार, कल प्रातःकाल होते ही होते, जीवित रूप में, जल मरने-वाला था। इसीलिए सारे शहर में, कुहराम मचा गया। जनता,

इस हृदय-विदारक हत्या-काण्ड के पाप से भय-भीत हो कर, जनता शहर को खाली कर निकले जा रही थी। रास्ते चलते हुए एक राहगीर ने कुमार को भी नगर में जाने से रोका। परन्तु परोपकार-परायण पुरुषों का जीवन तो परायों ही के हित के लिए होता है। नगर में प्रवेश उन्हों ने किया। जाते ही 'फूली' नामक एक मालिक की आँखों को अच्छा उन्हों ने किया। वह जन्मान्ध थी। रानी के पास दौड़ी हुई वह गई। उस राम-बाण औषधि की प्रशंसा उस ने वहाँ की। प्रत्यक्षं किं प्रमाणं। रानी ने चट राजा के सामने उस बात को रक्खा। पहले तो कई प्रकार की शंकाएं उस ने कीं। "बड़े-बड़े भिष-गाचार्य और सर्जनों की कुछ करामात सफल जहाँ न हुई, साधारण वैद्य की तो फिर बिसात ही वहाँ कौनसी है! अच्छा, उस के भी मन की कर लेने दो।" यह कह कर नरेश ने कुमार को बुला भेजा। कुमार ने औषधि आँजी। थोड़ी ही देर में कन्या की आँखें कुन्दन बन गईं। बदले में, कुमार का, राजा आजीवन ऋणी हो गया। उस कन्या का पाणि-ग्रहण भी, उसी दिन, कुमार के साथ हो गया। यही नहीं, आधे राज का अधिपति भी, जित-शत्रु ने उन्हें बना दिया। कुमार की, फिर से, काया-पलट हो गई। जिस प्रकार, पुनः उन की पद-वृद्धि हुई, उसी प्रकार, अपनी परोपकारमयी भावना को व्यावहारिक वृद्धि का रूप उन्हों ने दे दिया। कुमार और कुसुमावती अब आनन्द-पूर्वक दोनों रहने लगे।

उधर, सज्जन की करणी भी अब फूलने-फलने लगी। अन्न-धन से वह क्षीण हो गया। अब भीख ही उस के जीवन का आधार थी। होते-होते, एक दिन भीख के हित वह उसी बस्ती

में आ निकला। ललितांग कुमार की परोपकारमयी बुद्धि और निगाह ने सज्जन को चट से पहचान लिया। उसे पास उन ने बुलाया। कुमार को पूर्ण स्वस्थ और अपने राजसी वेष में देख-भाल कर, सज्जन का सिर मन्दा पड़ गया। सहसा, वह बोल पड़ा, "मित्रवर! धन्य है आप की करणी और मनसूबा! मैं आज तक आप के सिद्धान्त की अवहेलना करता था। अब अपनी हिमालय-जैसी भूल मुझे मालूम हो गई। प्रत्यक्ष प्रमाण भी, आप ही, इस का मेरे सम्मुख हैं। आपने अपने व्यवहार से सिद्ध कर दिखाया, कि भले का फल भला ही होता है। मैं ने अपनी नीच करणी का फल पाया। आप से ज्यों ही मैं विदा हुआ था, रास्ते ही में चलते-चलते मैं लुट गया। ऊपर से मार भी कुछ कम न पड़ी। घर गया। वहाँ भी सब संड-बंड पाया। मेरे पापों की पोल, राजा पर भी, एक दिन प्रकट हो गई। सही-सलामत, रातों-रात, वहाँ से भी भाग कर बच पाया। यह कुछ कम नसीब की बात नहीं है। अब तो सूखी-लूखी रोटियाँ भी समय पर नसीब नहीं होतीं।"

सज्जन की आँखें पानी में डुबकियाँ लगा रही थीं। कुमार का करूण-हृदय इस घटना को और अधिक देर तक न देख सका। वे परोपकारी थे। शत्रु और मित्र, सभी के लिए, उन की करूणा का स्रोत एकसा प्रवाहित था। कुमार ने सज्जन को अभय दान देकर, एक मित्र के नाते, उसकी तत्काल ही काया-पलट कर दी। कुछ भी हो, आख़िरकार उस का हृदय तो, अभी तक वैसा ही दुर्जन था। साँप को चाहे जितना दूध कोई पिलावे, विष ही तो बदले में वह उगलता है। सज्जन की भी यही हालत थी।

एक दिन, वह, कुमार के श्वसुर के पास फ़र्यादी बन कर पहुँचा। वह बोला, " आप के दामाद, कुमार ललितांग, मेरे साथ इतना स्नेह केवल इसी लिए करते हैं, कि कहीं उनके पाप का भण्डा फूट न जाय। असली राजकुमार तो मैं हूँ। ये तो मेरे चरवादार हैं। राजा, यह बात सुन कर, आग-बगोला हो गया। उसी क्षण जल्लादों को उस ने बुलाया। उन्हें आज्ञा दी, कि " आज ठीक ग्यारह बजे रात को, जब कुमार ललितांग को मैं अपने पास बुलाऊँ, उस समय, अमुक स्थान पर, आते हुए कुमार के सिर को धड़ से अलग तुम कर दो। और, यह भी ध्यान में रक्खो, कि इस गुप्त अभिसन्धि का रहस्य किसी पर प्रकट न होने पावे। "

राजाज्ञा के अनुसार, कुमार के क़त्ल का सारा सरंजाम हो गया। ठीक ग्यारह, घड़ी बजा रही थी, कि इतने ही में एक राजकीय पुरुष कुमार के निकट आकर बोला, " कुमार की जय हो। महाराज ने आप को इसी घड़ी याद फर्माया है। मेरे ही साथ आप हो लें। " कुमार कुछ सेकण्ड तक दुविधा में पड़ गये। आखिरकार, सज्जन को उन्होंने कहा " भाई! ज़रा, नरेश से मिल तो आओ। इस आधी रात के समय, मुझे उन्होंने याद क्यों किया है! " सज्जन राजकीय पुरुष के साथ हो लिया। बेचारा बीच ही में, जल्लादों के द्वारा, कुमार के भरोसे, कत्ल कर दिया गया। सज्जन के पापों की पराकाष्ठा हो चुकी थी। संसार में, उस के लिये, मृत्यु-दण्ड से बढ़ कर और कोई दंड ही नहीं था। इस जगह, " खाड़ खनैगो और को, ता को कूप तयार " वाली पहली, सज्जन के लिए सोलाह-आना घटी। सुबह हुआ। राजा की

इस धींगा-धींगी की वात, प्रजा पर प्रगट हो गई। और, कुमार फिर भी वाल-वाल वच गया। अव तो राजा का क्रोध और भी भड़क उठा। कुमार के विरुद्ध, उसने युद्ध की घोषणा कर दी, उधर, परोपकार-परायण, कुमार के हृदय में कपट का नाम भी न था। सज्जन की हत्या और राजा की कुविचार पूर्ण कपट-मन्त्रणा का रहस्य, कुमार ने समझ पाया। अन्त में, वे भी क्षत्रिय-कुमार थे। युद्ध का उन के साथ 'चोली-दामन' का नाता था। वे ज़रा भी न झिझके। राज-नीति और युद्ध-विद्या में कुशल वे पहले ही से थे। अपनी सेना को, वात की वात में, उन्हों ने सजग कर दिया।

कुमार अव वस्ती के वाहर चले आये। समय और स्थान के अनुसार, सेना की व्यूह-रचना उन्हों ने की। कुमार, ठीक उस के वीच में थे। कुमार की आज्ञा के विना कोई भी उस में प्रवेश नहीं कर सकता था। उधर, राजा भी वस्ती के वाहर युद्ध के लिए चला। दीवान ने पूछा, " महाराज ने आज किस पर टेढ़ी भौंहें की हैं! कुमार से लोहा लेने के पहले, कुमार के सद्‌गुण, शूरता, साहस, और सम्वन्ध पर तो, भली-भाँति विचार कर लिया होगा।" राजा ने कहा, " अनर्थ हो गया! कुमार का वंश हमें तो अव ज्ञात हुआ। एक चरवादार के हाथ, राज-कन्या का भाग्य विक गया!"

" महाराज!—'अन्तर अँगुरी चार को; साँच-झूँठ में होई,।
सव माने देखी-कही; सुनी न माने कोई॥

यों सुनी-सुनाई वातों पर ही जव युद्ध छेड़ देंगे, तव तो पद-पद पर युद्ध होने लगेंगे। अतः ज़रा, कार्य-कारण की तह

का पता लगाना चाहिए। केवल सज्जन के मुँह से सुनी हुई बात ही पर, कुमार और कुमारी के भाग्य का निर्णय करना, न्याय संगत नहीं है,"मन्त्री ने प्रार्थना करते हुए कहा।

राजा अपनी अनसोची करणी पर पछताया। दीवानजी को मामले की छानबीन का काम सौंपा गया। दीवानजी, कुमार के वंश का पता लगाने के लिए, उनके पास गये। शिखर में वे पहुँचे। कुमार के सम्मुख, उन की आज्ञा ले, उन्हें पेश किया गया। प्राथमिक शिष्टाचार के बाद, मन्त्री ने अपना वक्तव्य पेश किया। कुमार ने कड़क कर इसका उत्तर दिया, कि "मैं जिस जाति का हूँ, इसका उत्तर तो, आप को, रणाँगण में, मेरी खर-तर तलवार के द्वारा दिया जावेगा। दीवानजी! अपने मुँह मियाँ मिट्ठु तो बनना, मैं जानता नहीं। प्रसंगवश, मुझे तो इतना ही कहना है, कि 'शूर समर करणी करहिं; कहि न जनावें आप। विद्यमान रण पाइ रिपु, कायर करहिं प्रलाप॥' मन्त्री इस उत्तर को पाकर हताश न हुआ। वह अनुभवी था। राजनीति की पेचीदागियों को वह सुलझाना भी खूब जानता था। अकारण, कुमार भी नहीं चाहते थे, कि हज़ारों लाखों का खून-खचर मचाया जाय। मन्त्री के आग्रह-पूर्वक आवेदन ने, कुमार को, उनके वंश का नाम-धाम बता देने पर, अन्त में कायल कर ही जो दिया। यह सुनकर, कि वे श्रीनिवास वाती के दात्रिम महाराज नरवाहन के ज्येष्ट पुत्र हैं। दीवान का हृदय प्रफुल्लित हो गया। मंत्री, चट से राजा के पास पहुँचे। सारा हाल उनसे कहा। अब तो राजा के आनन्द की सीमा ही न रही। कुमार से क्षमा-याचना उसने की। महाराज नरवाहन को भी, कुमार के अपने यहाँ होने का सन्देश, उसने दे दिया। नरवाहन

जो भी 'सज्जन' के झाँसे में आ गया था, तब भी अछुता-पछुता वह पूरा रहा था। सन्देश को पाते ही, कली-कली उस की खिल गई। वह दल-बल के साथ, पुत्र का समयोचित स्वागत करने के लिए, तत्काल ही वहाँ पहुँचा। वर्षों के बिछुड़े हुए दो हृदय, एक हुए। पिताने पुत्र के परोपकार की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। पिता तो, पुत्र के परोपकार को, निज की करणी में जाने के लिए भी कटिबद्ध हो गये। जित-शत्रु ने भी महाराज नरवाहन का साथ किया। अब कुमार ही, दोनों राज्यों के, सर्वेसर्वा अधिपति बना दिये गये। श्वसुर और पिता दोनों आत्म-कल्याण के लिए निकल पड़े। कुछेक वर्षों तक, कुमार ने बड़ी ही न्याय नीति-पूर्वक राज्य को सँभाला। एक दिन, अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप, साधु वे हो गये। और, अपने आत्म कल्याण के मार्ग को और भी प्रशस्त कर लिया। यदि कोई प्रयत्न करे तो एक-मात्र परोपकार ही के बल, इस नस्वर जगत में भी अमर बन सकता है।

२१

कीर्तिध्वज मुनि

आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व, अयोध्या नगरी में, सूर्यावतंश महाराज पृथ्वीभूप राज करते थे। इनके पुत्र का नाम कीर्ति-ध्वज था। कुमार की बुद्धि बड़ी ही कुशाग्र थी। निर्ग्रन्थ मुनि का उपदेश श्रवण कर, एक दिन, महाराज का मन, संसार से उचट गया। तब कुमार के हाथों राज्य सौंप, आप मुनि बन गये। कुमार राजा तो बन गये। परन्तु उन का भी मन था

उसी दिशा में। यही कारण था, कि न तो संसार का भोग ही उन्हें भाता और न राज-कार्य ही से किसी प्रकार की अभिरुचि उन्हें थी। महाराज के मन की वात को दीवान ताड़ गया। एक दिन वह वोला, " महाराज, विना पुत्र के उत्पन्न हुए, यूं वैराग्यवान् वन कर रहना और मुनि वनने की भावना को प्रोत्साहन देना, तो आप-जैसे जिम्मेदार व्यक्तियों को किसी भी कदर योग्य नहीं। जैसे, आप के पिताजी ने, प्रजा के कष्टों को सुनने के लिए, आप को नियुक्त कर के दीक्षा ली है, ठीक उसी प्रकार, आप भी अपने उत्तराधिकारी का निपटारा, अपने पुत्र के हाथों कर, खुशी-खुशी मुनि वन सकते हैं। महारानी को भी इस वात का पता लग गया।

कुछ ही दिनों के वाद, रानी की कोख से एक पुत्र पैदा हुआ। राजा को इस वात का पता तक न चलने दिया। क्योंकि, रानी को राजा के मुनि वन जाने का भय था। महाराज एक दिन अपने गवाक्ष में वैठे थे। सूर्य-ग्रहण उस दिन था। जगत् की प्रत्येक घटना, ज्ञानी के लिए, एक एक प्रकार की प्रयोगशाला ही का काम देती है। वेश्याओं के नाच तक को देख कर, उन के मन-मानस में ज्ञान की उमंग तरंगें उठने लगती हैं। मृदंग की ' डुवक-डुवक ' से उन्हें ' डूवन ' का भान होता है। सारंगी की ' कुन-कुन-कुन ' की ध्वनि में ' कौन डूवता है-कौन डूवता है'-की ध्वनि उन्हें सुनाई देती है। और, वैश्या के द्वारा, दर्शकों की ओर, जो वार वार हाथों को लम्वा करके इशारा किया जाता है, उस से उन के डूवने का सन्देश वे पाते हैं। आखिरकार, मनुष्य अपनी भावनाओं का पुतला तो होता ही है। सूर्य-ग्रहण से, महाराज कीर्ति ध्वज

भी ऐसे कई प्रकार के अर्थ निकालने लगे। वे सोचते थे, सूर्य को इस समय राहु ने हत-वैभव और हीन बल बना दिया है, ठीक इसी प्रकार, आत्म-रूपी सूर्य भी पाप-रूपी राहु से ग्रसित है। यही कारण है, कि आज वह अशक्त बन कर, अनेकों प्रकार के कष्टों का उपभोग वह कर रहा है। नाना प्रकार की योनियों में भ्रमता वह फिर रहा है।

कुछ ही समय के पश्चात्, अपने पुत्र को भी उन्हों ने देख लिया। मन्त्री की संमति के अनुसार, महाराज ने अपने वायदे को पूरा हुआ समझ लिया। वैराग्य ने अब तो उन के चित्त पर और भी गहरा प्रभाव डाला। सुकोशल कुमार के कन्धों पर राज्य का भार उन्हों ने रक्खा। और, आप ने दीक्षा ग्रहण कर ली। महाराज का मन ज्ञान में गोते पहले ही से लगा रहा था। थोड़े ही समय में, अब तो और भी यथेष्ट ज्ञान सम्पादन उन्हों ने कर लिया। तपस्याएँ भी पूरे एक-एक मास की वे करने लगे। विचरते हुए, कीर्तिध्वज मुनि, एक दिन अयोध्या में पधारे। उन्हें एक महीने की तपस्या का पारणा, उस दिन था। गोचरी के लिए वे नगर में गये। कहीं, रानी ने उन्हें देख लिया। उन्हें पहचान भी उस ने लिया। मन ही मन वह कहने लगी, "ऐसे ही साधु यहाँ पहले भी आये थे। उन्हों ने मेरे बसे-बसाये घर को वीरान बना दिया। मेरे सौभाग्य को सदा के लिए मुझ से छीन लिया। परन्तु आज तो पतिदेव ही स्वयं उस वेष में यहां पधारे हैं। कहीं ऐसा न हो, कि राज्य के एक मात्र सर्वस्व, मेरे पुत्र को भी ये बहका दें।" यह सोच कर, अपने दास दासियों को, उन्हें नगर से बाहर कर देने का, हुकम उसने दिया। ऐसी-वैसी आज्ञाओं के मिलने पर, स्वार्थी

और अर्थ-लोलुप नौकरों की सोलह आना बन पड़ती है । ऐसे ही अवसरों का सदुपयोग कर, वे अपनी मन-मानी पद-वृद्धि करवा लिया करते हैं । यही कारण है, कि अपने मालिक के किसी के प्रति किये हुए एक गुना विरोध को, दस गुना कर के दिखाते हैं । वे इस बात को तो, फिर देखने ही क्यों और कब लगे, कि उन के स्वामी की आज्ञा अन्याय-संगत है या न्याय-संगत । वे, रोटी के कुत्ते होते हैं । परमात्मा का भी कोई भय, उस क्षण, उन्हें नहीं होता । आज्ञा पाते ही, नौकर लोग, उन्हीं मुनि को, जो एक दिन इसी राज्य के सर्व सर्वा अधिकारी थे, मारते-पीटते शहर के बाहर ले जाने लगे । महाराज सुकौशल ने, एक दासी के द्वारा, इस घटना को गुप्त रीति से सुन पाया । वे दौड़े और मुनि के पास आकर उन के चरणों में गिर पड़े । अपने अपराध की क्षमा चाही । वे बोले, "मुनिनाथ ! इस घटना से मैं बिल-कुल अपरिचित हूँ । मेरी माता ही का हाथ इस में है । यह राज्य, धन, धरती, आदि सब आप के हैं । आप पुनः गोचरी के लिए बस्ती में पधारें ।" संन्त-हृदय, शत्रु और मित्र सभी के लिए समान होता है । मुनि बोले "वत्स ! संसार के स्वार्थ और विषमता की गलियाँ बड़ी ही तंग हैं । आगे चल कर, मुनिनाथ ने सुकौशल महाराज को आत्म-बोध का उपदेश दिया । मुनि का उपदेश कार कर गया । बात की बात में दुनियाँ से उनका दिल फिर गया । बस, फिर देर ही कौन सी थी । चट, मुनि का वेश उन्होंने धारण कर लिया । और, मुनि के साथ हो लिये ।

महाराज सुकौशल की माता ने इस संदेश को सुना । पुत्र-प्रेम के आवेश में आकर, महल के ऊपर से वह नीचे

कूद पड़ी। यूँ अकाल मृत्यु पाकर, चित्रकूट के पर्वतों में, सिंहनी के रूप में वह जा जन्मी। एक दिन दोनों मुनियों के मास-क्षमण की तपश्चर्या का पारणा था। विचरते-विचरते दोनों उसी ओर जा निकले। गोचरी के लिए, बस्ती की टोह में थे। मार्ग में चलते हुए, उसी सिंहनी को बीच रास्ते में बैठी हुई देखा। मुनि-कीर्ति ध्वज बोले, "वत्स! सामने देख! जान पड़ता है, सिंहनी के रूप में स्वयं मृत्यु ही, मार्ग रोके आज सामने दिख पड़ती है। यदि पीछे हटते हैं, तो अपने क्षत्रिय-कुल को दाग लगता है। और आगे पैर रखने में प्राणों की बाजी लगानी पड़ती है।" 'भगवान्! आज, आप के देखते ही देखते मैं अपने कार्य को सिद्ध कर लेना चाहता हूँ। मुझे ही आप पहले इधर जाने दीजिए।" शिष्य ने गुरु से प्रार्थना करते हुए कहा। गुरु ने शिष्य की अवस्था को कोमल, और उस कष्ट को असह्य बता कर, उन्हें हटकने की कोशिश की। यों, कुछ देर तक, दोनों में, एक दूसरे से पहले जाने के लिए, वाद-विवाद होता रहा। दोनों क्षत्रिय-वंश के थे। शूरता और साहस दोनों की रग-रग में भरा था। प्राणों का मोह एक को भी न था। आखिरकार, शिष्य ही पहले जाने के लिए तैयार हुए। आलोचना कर, सन्थारा उन्होंने धारण कर लिया। तब निर्भीक हो, मौत-रूपी सिंहनी का स्वागत करने के लिए वे आगे बढ़ चले। मुनि के निकट पहुँचते ही, सिंहनी ने एक ही पंजे में उनका काम तमाम कर दिया। फिर अपने पैने दाँतों तथा नाखूनों से, मुनि के शरीर के चमड़े को उधेड़ ने लगी। और, मरु-धर के परम प्यासे पथिक की भाँति, जोरों से, उन का खून वह चूसने लगी। देखते ही देखते, उन की बोटी-बोटी उसने बिखेर दी। मरते

दम, क्षमा के सागर मुनि, अपने परमोज्ज्वल शुक्ल विचारों के ध्यान में तल्लीन थे। कलुषित भावों का लेश-मात्र भी समावेश उन के हृदय में उस समय न था। फलतः अपने सम्पूर्ण घनघाती कर्मों का एकान्त नाश करते हुए, उसी क्षण केवल-ज्ञान की अभूत-पूर्व प्राप्ति उन्होंने कर ली। और, मोक्ष-धाम के अधिकारी वे बन गये।

संतों की क्षण भर की संगति और दर्शन से जन्म-जन्मान्तरों के पापों का क्षय, सहज ही में, हो जाता है। मुनि के दाँतों की पंक्ति को देख कर, सिंहनी ज़रा ठिठुक-सी रही। वह कुछ परिचित-सी उसे जान पड़ी। उधर, मुनि कीर्ति-ध्वज ने जब उसे यूँ विचार-मग्न देखा, अपने ज्ञान के बल जान लिया, कि "यह तो वही कमल प्रभा रानी, सुकौशल की स्नेह-मयी माता, है।" वे उसे सम्बोधित कर कहने लगे, "ओ पापि-नी। आज तूने अपने ही पुत्र का प्राणान्त कर दिया। तुझे धिक्कार है! धिक्कार है!! सैकड़ों बार धिक्कार है!!!" मुनि की इस मार्मिक वाणी को सुन कर, वह और भी विचार में पड़ गई। सोचते-सोचते, जाति-स्मरण-ज्ञान उसे हो आया। अप-ने पूर्व जन्म की सारी बातें, एक-एक करके, उस के सामने आ-आ कर नाचने लगीं। अब तो अपनी दुष्कृति पर उसे घोर पश्चाताप हुआ। अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के मिस, मन ही मन प्रतिज्ञा उस ने की, कि "आज से आगे, कोई भी ऐसा क्रूर कर्म, मैं कभी भूल कर न करूँगी।" तदनुसार, मार्ग से उठ खड़ी वह हुई। चल कर, अपनी कन्दरा में, वह जा बैठी। यों, कठिन भूख-प्यास को सहते हुए, शीघ्र ही अपना अन्त उस ने कर डाला। मृत्यु पा कर, आठवें स्वर्ग में वह

गई। उधर, मुनि कीर्ति-ध्वज भी, अभी तक, अपने सम्पूर्ण क्रूर कर्मों का अन्त कर चुके थे। केवल-ज्ञान पाकर, कुछ ही काल में वे भी मोक्ष-धाम में जा विराजे। मनुष्य अपने भाग्य का आप ही विधाता होता है। जैसी भी भली या बुरी उस की भावनाएँ होती हैं, तदनुसार ही, भली या बुरी योनियों में जाकर जन्म उसे लेना पड़ता है। जब बात ऐसी है, तब प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य और धर्म है, कि वह अपनी भावनाओं को सदा शुद्ध रक्खे।

२२

प्रभव-स्वामी

वीर प्रभु के समय के आस-पास, 'प्रभवा' नामक एक डाकू था। दिन-दहाड़े बड़े-बड़े डाके डालना, उस के बाँएँ हाथ का खेल था। कई प्रकार की विद्याओं का यह स्वामी था। एक तो 'निद्रावस्थापिनी' अर्थात् जब चाहे तब, जहाँ चाहे वहाँ, और जैसे चाहे तैसे, घोर निद्रा के वश मनुष्यों का कर देना; और दूसरी, बात की बातमें मज़बूत से मज़बूत ताले तोड़

गिराना, ये दो विद्याएँ तो मानो इस की दासियाँ ही थीं। उसे वे यहाँ तक सिद्ध थीं, कि उन के बल, मनुष्यों के देखते-देखते बड़े से बड़े मज़बूत स्थानों पर, छापा वह मार सकता था। वह अपने पाँच सौ डाकुओं के एक गिरोह का सरदार (Ring-Leader) था। एक दिन राजगृह में वह आया। सेठ ऋषभदत्त के पुत्र, स्वनाम-धन्य जम्बू कुमार के भवन पर, छापा उसने मारा। उसी दिन कुमार का विवाह आठ कन्याओं के साथ हुआ था। दहेज भी कुछ कम न मिला था। पूरे छप्पन करोड़ का था। वह भवन के आँगन ही में ला कर रख दिया गया था। हुक्म पाते ही, प्रभवा के सभी साथियों ने बड़ी से बड़ी पोटलियाँ बाँधीं। अपनी अपनी गठड़ियों को उठाना अब वे चाहते थे, कि एक घटना उस समय घटी। कुमार को, 'धन के हरण हो जाने से कुमार साधु हो गये हैं,' इस घोर कलंक से बचाने के लिए, शासनाधिकारी देव ने, प्रभवा को छोड़, अन्य सभी डाकुओं के पैरों को, पृथ्वी से चिपका दिया। प्रभवा ने उन्हें पूछा, अब विलम्ब किस बात की है? चलते क्यों नहीं बनते? राह किस की देखते हो?" उन्हों ने कहा, "किसी ने ज़बर्दस्त करामात हम पर कर दी है। हमारे पैर और पृथ्वी एक हो गये हैं। एक इंच भी, आगे हम हट नहीं सकते।" इन शब्दों के सुनते ही उस के कलेजे में कुहराम-सा मच गया। "एं! क्या, किसी ने पैर पृथ्वी से चिपका दिये?" कहता हुआ, क्षण-भर के लिए चौंक वह पड़ा। तत्काल ही सब को चुप उस ने किया। और, कान लगा कर, ऊपर के मंज़िल से आती हुई, गुनगुनाती आवाज़ को वह सुनने लगा। उस के जीवन में, यूँ चकित होने का, यह पहला

ही अवसर था।

आवाज़ के सहारे, सेंध लगाता-लगाता, प्रभवा ऊपर चढ़ा। कुमार को अपनी आठों नव-विवाहित अर्द्धांगिनियों के साथ, वाद-विवाद करते, उसने वहाँ पाया। आठों अर्द्धांगिनियाँ कुमार को कह रही थीं, " जब दीक्षा लेना ही आप का ध्येय था, तब विवाह की केवल मानता-मात्र पूरी करने के एक दिन ही के लिए, हमारे सारे जन्म और जीवन को आपने बर्बाद ही कैसे किया ! हमारी सारी उठती हुई उमंगों को, विवाह के पहले ही दिन, आपने बड़ी ही बुरी तरह से कुचल कर, सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। क्या, हम्हीं अबलाओं के साथ इस प्रकार के अत्याचार के करने का मौका आप को मिला है ? " " मैंने पहले ही यह बात तुम्हें कहला दी थी। मेरा इस में रत्ती-भर भी दोष नहीं। अब तो ऐसा विवाह अपने को करना चाहिए, जिस से भाँति-भाँति के जन्म-धारण करने और मौत का मुँह ही कभी अपने को न देखना पड़े, " कुमार ने उदासीनता से कहा। ये सब बातें प्रभवा ने कान लगा कर सुनीं।

प्रभाव की निद्रावस्थापिनी विद्या की करामात, कुमार के परिवार पर कुछ न चली। इस से भी वह चकराया। फिर एकाएक वह कुमार के आगे जा खड़ा हुआ। उसे देखते ही सारा स्त्री-समाज मुँह बाँधे एक ओर जा खड़ा हो गया। प्रभवा ने कुमार से कहा,- ' एक ओर तो हम हैं, जो पर-धन और पर-दारा की फिराक में, इधर-उधर डाका डालते फिरते हैं। और, जिन को पाने के लिए हम अपने प्राणों तक को, सदा-सर्वदा हथेली में लिये रहते हैं। दूसरी ओर एक आप हैं, जो

अपनी निज की अपार सम्पत्ति और सौन्दर्य तथा सुकुमारता की जीवित निधियों, पत्नियों तक को लात मारकर, दीक्षा लेने पर उतारू हो रहे हैं !" क्या, कुमार की यह नादानी नहीं है ?, प्रभवा को अपने पक्ष पर वकीली करते देख, आठों पत्नियों का हृदय-कमल खिल उठा "निर्बल को बल राम" कहते हुए, उन्होंने अपने भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

कुमार को सम्बोधित कर, प्रभवा, बोला, "जम्बूजी ! दिल से दूर करो अपनी दीक्षा की बात को ! सँभालो अपनी अटूट सम्पत्ति और सह-धर्मिणियों को ! मैं तुम्हारे यहाँ डाका कभी न डालूँगा : लो, सीखो मुझ से दो अमूल्य और असाधारण विद्याएँ; और, बदले में, अपनी 'स्थम्भिनी विद्या को सौंपो मेरे हाथ।" ये स्थम्भिनी विद्या का प्रयोग किसी देव ने तुम पर किया होगा। अरे, धरा क्या है, इस धन और धरनी में ! चोरी कर-कर के, क्यों अपनी आत्मा का हनन कर रहे हो ! क्या, कर्मों का फलोदय होते समय भी ये साथी तुम्हारा साथ कभी देंगे ? कभी नहीं ! प्रभवा ! अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं है। सुबह का भूला, अगर शाम को भी अपने घर आजावे, तो उसे भूला हुआ नहीं कहते। अतः छोड़ो इस कुत्सित कर्म को इसी क्षण ! और धारो सत्य, दत्त, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि सद्गुणों को ! जिससे तुम्हारी आत्मा निजानन्द में रमण करे।" कुमार ने कहा। कुमार के इन इने-गिने शब्दों ही ने प्रभवा की काया पलट कर दी। वह बोला, "कुमार ! आज से मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। चलो, आप और हम सभी आजही से आत्मोन्नति के मार्ग में कूद पड़ें ! दुर्गुणों के दुर्ग को चूर-चूर कर, सद्गुणों के अन्वेषक बनें।" कुमार तो पैरों पर बैठे

ही थे। पाँच सौ डाकुओं के साथ, प्रभवा तथा कुमार ने, उसी दिन दीक्षा धारण कर ली। उसी दिन से, वे सब के सब आत्म-कल्याण में लग पड़े। कंचन और कामिनी से पीछा छुड़ाना सचमुच में विरले ही महा पुरुषों का काम है। संसार की सम्पूर्ण व्याधियों की मूल ये ही दो बातें हैं। एक बार, साहस कर के जिसने भी मुँह इन से मोड़ा, उसी ने कर्म की रेख में मेख मारने का काम कर दिया।

२३

बलदाऊजी

हज़ारों वर्ष बीत गये, महाराज श्री कृष्ण द्वारिका में राज करते थे। उन के भाई बलदाऊजी थे। एक दिन द्वैपायन ऋषि के द्वारा द्वारिका का सर्वनाश जब हो गया, महाराज श्री कृष्ण, अपने भाई तथा पिता को साथ ले, वहाँ से बाहर चल पड़े। पुरी के द्वार में से हो कर ये गुजर ही रहे थे, कि इतने ही में अचानक उस की छत टूट पड़ी। जिसके कारण, श्रीकृष्ण

महाराज के माता-पिता का, वहीं का वहीं, शरीरान्त हो गया। चले-चले अब दोनों भाई कौशाम्बी में पहुँचे। उस समय, कृष्ण महाराज अत्यन्त प्यासे थे। वहाँ एक विशाल वट को देख, उन की छाया में, वे पैर पर पैर चढ़ाकर, बैठ गये। बलदाऊ जी जल की तलाश में गये।

इधर, महाराज कृष्ण के पैर के पद्म के चमकते हुए चिन्ह को, दूर से, जरद् कुमार (कालु भील) ने मृग की आँख समझा। और, तत्काल ही, एक तीखा तीर उसने उस ओर छोड़ दी। पास वह आया। महाराज को सामने देख कर और तीर को उन्हीं के पैरों में लगा हुआ जान कर, उस के होश-हवास खट्टे हो गये। परन्तु पश्चात्ताप के सिवाय, उस के पास अब कोई नहीं था। इतने ही में, " अरे व्याध! घबरा मत। अपने पूर्व भव, रामावतार में मैं ने तुझे तीर मारा था। यह उसी की भरपाई है। अब तू यहाँ से, जितना भी जल्दी हो सके, भाग निकल। अन्यथा, बलदाऊ के आने पर, तेरा बचना असम्भव हो जायगा। " महाराज श्रीकृष्ण ने कहा। व्याध, यह सुन कर, नौ-दो ग्यारह बना। तीर विषैली थी। बलदाऊ जी के आने के पहले ही पहले, शरीर को त्याग कर, महाराज श्रीकृष्ण निज-धाम को पहुँच गये।

बलदाऊजी आये। " भाई, पानी पीलो। " वे बोले। एक बार, दो बार, चार बार, बलदाऊजी ने उन्हें पानी पी लेने के लिये कहा। परन्तु महाराज श्री कृष्ण का शरीर तो इह लौकिक लीला का संवरण कर चुका था। वे तब बोलते भी कैसे? बलदाऊजी ने समझा, भाई रोष में हैं। तब तो उन्हें अपने कन्धे पर उन्होंने उठा लिया। और, चलते

लगे। मार्ग में भी पानी के लिए, कई वार उन्होंने पहले ही के समान, अपने भाई से पूछा। भ्रातृ-स्नेह का आदर्श उदाहरण यह था। एक आज के भी भाई होते हैं। एक ही कोख से वे पैदा होते हैं। एक ही गोदी और घर में पल-पुष कर, बड़े वे होते हैं। संसारी समझ का साथ होने के पहले वे दो शरीर और एक प्राण होते हैं। परन्तु ज्योंही आज के संसार की हवा उन्हें लगी, वे एक दूसरे के पक्के प्राण-लेऊ बन जाते हैं। पहले, एक के साथ एक अर्थात् ग्यारह की शक्ति उन में थी। अब एक ऋण एक, अर्थात् शून्य बल उनका रहता है। वे दीवाने बन जाते हैं। यही कारण है, कि संड-मुसंड वैद्य, हक़ीम, वकील, आदि उन की सम्पत्ति के अब स्वामी होते हैं। कोर्ट-बाजी अब उन का जीवन-व्यवसाय रहता है। राम और भरत का आदर्श-स्नेह भी, हमारे सम्मुख सदा रक्खा जाता है। वहाँ भी हमें यही पाठ पढ़ाया जाता है, कि एक ने, दूसरे के लिए राज्य छोड़ा। परन्तु दूसरा, उसे ग्रहण करना, अपने अधिकार, न्याय, धर्म, कर्तव्य और सब से ऊपर, अपने अश्रुत-पूर्व आदर्श भ्रातृ-भाव की, हत्या करना समझता है। प्रजा के प्रतिनिधि, सचिव, गुरु और परिवार, सभी के सम्मुख भरतजी कहते हैं:—

"मोहिं राज हठि देहहु जब हीं। रसा रसातल जाइहि तब हीं॥
मो समान को पाप-निवासू? जेहि लगि सीय-राम बनवासू॥"

एक आज के भाई होते हैं, जो एक इंच धरती भी इधर की उधर नहीं छोड़ते। स्वार्थ, स्वोन्नति, स्वकीर्ति, स्वत्व, आदि आज के आदर्श हैं। इन की आड़ में, जो-जो अत्याचार, जगत् में आज हो रहे हैं, छोटे-छोटे सब कोई उन्हें जानते

हैं। अस्तु।

भ्रातृ-प्रेम के वशीभूत हो, वलदाऊजी, श्रीकृष्ण को कन्धों पर उठाये हुए, वड़ी दूर निकल गये। तव भी मृतक शरीर का अग्नि संस्कार उन्होंने नहीं किया। तव उन्हें चितौनी देने के मिस, एक देव ने मनुष्य का शरीर धारण किया। और, कोल्हू में रेती वह पेरने लगा। वलदाऊजी ने उसे देखा। वे वोले, "अरे! यह क्या करता है? रेती से भी कहीं तेल निकला है?" देव ने कहा, "जव रेती से तेल नहीं निकल सकता, तो मृतक शरीर भी वोल कैसे सकता है? ज़रा, महाराज श्री कृष्ण के शरीर की ओर देखो तो!" वलदाऊजी की आँखें खुलीं। भाई की ओर देख कर, नाना प्रकार के विलाप वे करने लगे। अन्त में, विधि-विधान के साथ, मृत-देह का अग्नि-संस्कार उन्हों ने किया। अव जगत् में वे अकेले थे। जगत् की अनित्यता पर, उन का ध्यान गया। वैराग्य उन के हृदय में उमड़ पड़ा। तव तो दीक्षित हो, वन-वन में विहार वे करने लगे।

मुनि वलदाऊजी, अव एक-एक माह की कठोर तपस्या करने लगे। एक वार पारणे का दिन था। वन से, वे तुंगिया नामक नगर में गोचरी के लिये आये। रूप-सौन्दर्य पहले ही से उनका विखरा पड़ता था। तपस्या के कारण, अव तो वह और भी चमकने लगा था। नगर की नारियाँ कूँएँ पर पानी भर रही थीं। उन की निगाह वलदाऊजी पर पड़ी। आँखों के द्वारा, वे उन के रूप-सौन्दर्य को पीने-सा लगीं। एक ने तो, इस धुन ही धुन में, घड़े के वदले, पड़ौस में वैठे हुए अपने वच्चे ही के गले में रस्सी डाल दी। और, कूँएँ में उस लटका तक दिया। वलदाऊ जी ने, उस की इस अमानुषिक करतूत के लिए, चिताया। तव

यह होश में आई। उस के पहले तक, उस ने बच्चे का रोना-धोना सुना तक नहीं, क्योंकि, उस का मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तो, बलदाऊजी के रूप-सौन्दर्य के हाथ बिक चुकी थीं। मुनि ने, अपने रूप-सौन्दर्य की, मन ही मन में बड़ी निन्दा की। इतना ही नहीं, ऐसे-ऐसे कई अनर्थों का मूल कारण अपने को समझ, उस दिन से, भिक्षार्थ शहर में आना तक उन्हों ने सदा के लिए रोक दिया। वहां से, वे फिर वन में लौट पड़े।

उसी वन में, एक सुतार किसी एक विशाल वृक्ष की शाखा को छाँग रहा था। भोजन का समय होने पर, उस की स्त्री मट्ठा और रोटियाँ, उस के लिए वहाँ लाई। काम को अधूरा ही छोड़ कर वह वृक्ष से नीचे उतरा। इतने ही में, एक मृग बलदाऊजी के निकट आकर, अपने सिर से, उसी ओर, उन्हें ले चलने के लिए, इशारा करने लगा। मुनि ने मृग का अनुसरण किया। चल-चल के वे दोनों भी उसी वृक्ष के समीप आये। सुतार भी भोजन करने के लिए तैयार बैठा ही था। मुनि ने, "भाई! यदि तू चाहे, तो हमें भी कुछ दे दे," कहा। सुतार प्रसन्न हो कर, मुनि को भोजन बहराने लगा। मृग, उस समय, मन ही मन अनेकों प्रकार के मनसूबे करने लगा। उसके मन में, "आज, यदि, मैं भी मनुष्य होता, तो तपस्वी मुनि की यथा-शक्ति कुछ न कुछ सेवा अवश्य करता। इस सुतार का भाग्य सचमुच में सराहनीय है जो अपनी गाढ़ी कमाई का कुछ भाग, मुनि की सेवा में अर्पित कर रहा है।" आदि आदि इस प्रकार की ऊंची भावनाओं का स्फुरण हो रहा था। तीनों के जीवन की अन्तिम घड़ियाँ बिलकुल ही निकट आ

पहुंची थीं। हवा ने अपना विकराल प्रवाह बहाया। अधकटी शाखा, वायु के प्रचण्ड वेग से, सुतार, मुनि और मृग, तीनों के ऊपर, अचानक आ गिरी। बस, उसी क्षण, तीनों का, वहीं का वहीं, अन्त हो गया। बलदाऊजी अपनी कठोर तपस्या के बल, सुतार उस काल के क्षणिक उच्च-भाव के दान से, और मृग अपने तात्कालिक सुन्दर एवं सेवा-मय निष्कपट मनसूबों के सहारे, यों वे तीनों के तीनों, पांचवें स्वर्ग में सिधार गये।

जब क्षण-भर की शुद्ध सेवा एवं त्याग-पूर्ण भावनाओं की जड़ इतनी गहरी जा सकती है, तब जीवन-भर की निष्कपट सुक्रियाओं, तथा सत्संगति से, निर्वाण-पद का मार्ग, निष्कंटक बन जाय, तो इस में अचरज की कोई बात ही नहीं।

सरलता, शुद्धता एवं सद्भावनाएं, स्वर्ग की सुदृढ़ एवं सुन्दर सड़कें हैं।

२४

जिनरक्ष-जिन-पाल

सैकड़ों वर्ष पूर्व, विहार प्रान्त की चम्पा नगरी में, माकन्दी नामक एक सेठ थे। भद्रा उन की भार्या थी । जिन-रक्ष और जिन-पाल दो आज्ञाकारी पुत्र उनके थे। ये दोनों भाई समुद्र-यात्रा कर के ग्यारह बार विदेशों को जा चुके थे । व्यापार विद्या में कुशल इतने थे, कि केवल ग्यारह बार की विदेश-यात्रा से ही, अटूट धन-राशि के स्वामी ये बन चुके थे । बारहवीं

बार फिर भी समुद्र-यात्रा करनी इन्हों ने चाही। समय पाकर, माता-पिता के सम्मुख, अपने विचार इन्हों ने प्रकट किये। वे बोले, "प्राण-प्यारे! पहले तो हम अब वृद्ध हो चुके हैं। तुम्हारे सिवाय, हमारी देख-भाल करने वाला तक यहाँ कोई नहीं है। हाँ. नौकर-चाकर जो भी बीसियों हैं; परन्तु अन्त में वे नौकर ही तो होते हैं। उनके हृदय में, तुम्हारी-सी प्यार होने ही क्यों लगी? दूसरे, अभी भी अपने पास इतनी अटूट सम्पत्ति है, कि संभाल कर चलने पर, तुम्हारी सन्तानें तो क्या, वरन् कई पीढ़ियों के खाने पर भी खर्च नहा हो सकेगी। अतः हाय-काम को छोड़ो। और, कठिन परिश्रम से कमाये हुए, अपने वैभव की विलसते हुए, अब तो विश्व का सुख भोगो। तीसरे, इस बार की जल-यात्रा हमें कुछ उपसर्ग-कारी भी जान पड़ती है।" पुत्रों ने उन की बातों को काना-फूसी में टाल दी। क्यों कि, जवानी का जोश उनमें था। और, सब से ऊपर, लक्ष्मी का लोभ रूपी भूत उनके सिर पर सख्ती से सवार था। सच है, "लोभश्चेद्गुणेन किं?" अर्थात् हृदय में लोभ यदि है, तो और अवगुणों की आवश्यकता ही क्या? समुद्र-यात्रा के लिए आखिरकार, हटकते-हटकते भी, चल ही पड़े।

जहाज़, किनारे से किनारा काट के, समुद्र की छाती को विकरालता से चीरता हुआ, उसके मध्य में अभी जाकर लगा ही था, कि एक विषम घटना इतने में घटी। भीषण तूफान उठ आया। आँधी चली। सागर की उत्ताल तरंगें, आसमान को चूमने की होड़ा-होड़ी करने लगीं। विशाल जल-यान समुद्र की चपेटों को और अधिक समय तक अब न सह सका। उथल-पुथल वह करने लगा। और, बात की बात में,

सैकड़ों आदमियों के साथ, सदा के लिए, समुद्र की तली में बह जा बैठा। जिनपाल और जिन-रक्ष का दिन-मान कुछ ऊँचा था। या यूँ कहो, माता-पिता की आज्ञोल्लंघन की सज़ा और भी कड़ी उन्हें मिलनी थी। समुद्र पर उतराता हुआ, एक पटिया दोनों भाइयों के हाथ लग गया। दोनों सवार उस पर हो लिये। अब उनके जीवन का रुख, भाग्य और हवा के रुख की ओर था। उतराते-उतराते तख्ता रत्न-द्वीप के तट पर जा कर लग गया। वहाँ पटिये पर से दोनों भाई उतर पड़े। वहां नारियल के वृक्षों का सघन वन था। भूमि पर पड़े हुए कुछ नारियल उन्हों ने उठाये। गिरी का तेल निकाल बदन पर उन्हों ने मला। उन्हीं की गिरी और पानी से अपनी भूख और प्यास उन्हों ने बुझाई। इतने ही में उसी द्वीप की रत्ना-देवी, विकराल वेष किये, तलवार अपने हाथ में पकड़े, उनके सम्मुख आ खड़ी हुई। वेष-भूषा से वह देवी थी, पर हृदय उस का विकराल राक्षसी का था। पहले अनेकों प्रकार के प्रलोभन और आश्वासन उसने उन्हें दिये। सब प्रकार से स्वागत भी उसने उनका पूरा-पूरा किया। इशारा करते हुए, अपने बढ़े-चढ़े वैभव की सम्पूर्ण सामग्री भी दूर ही से उन्हें उसने दिखाई। यह उसके कथन का एक पहलू था। दूसरे में, उस की पाप-वासना की पूर्ति न की जाने पर, तलवार को ऊपर उठा कर, उन के सिरों को धड़ से अलग कर देने की धमकी उन्हें दी। उस विकराल वेष को देख कर, दोनों भाइयों का विवेक, बल और विक्रम, सब के सब विकल हो उठे थे। अस्तुः देवी का प्रस्ताव अनीति-पूर्ण होने पर भी, स्वीकृत हो गया। तदनुसार, दोनों भाइयों को, उसके वैभव-सम्पन्न विशालकाय भवन में, उसने ला ठहराया।

दोनों भाइयों ने, उसके कथनानुसार, उसकी पाप-पूर्ण वृत्तियों की पूर्ति भी की। पश्चात्, जब अधिकारी देव के आदेश से, सागर की सफाई के लिए वह जाने लगी, उसके पूर्व, वह उन से बोली, "मैं अभी आती हूँ। इतने पर भी, तुम्हारा मन यहां न लगे, तो अनेकों प्रकार के सुन्दर-सुन्दर वृक्ष और लता-मंडपों से, पूर्व के बाग़ में जा कर, अपना मनोरंजन तुम कर सकते हो। यदि, वहां भी भला न लगे, तो शरद् की सुन्दर और मनोमोहक छटा को छीननेवाले, उत्तर के उद्यान में तुम चले जाना। अनजान होने के कारण, यदि वहाँ भी अधिक काल तक तुम्हारा मन विलम न सके, तो फिर पश्चिम के, उस उद्यान में तुम दोनों भाइयों ने चले आना, जहाँ "वसन्त ऋतु रहे लुभाई' है। और, ग्रीष्म अपनी गरिमा गवाँ बैठी है। यदि, वह भी तुम्हें अखरे, तो पुनः यहीं लौट आना इतने में तो, मैं तुम्हें यहीं मिल जाऊँगी। परन्तु भूल कर भी दक्षिण के बाग़ में कभी पैर न रखना। वहाँ एक बड़ाही विषधर भुजंगम रहता है। जिस ने भी एक बार, कभी उधर पैर धरा, कि बस, वह वहीं का वहीं सदा के लिए सो गया।" यूँ कह कर, देवी तो अपने काम के लिए चल पड़ी। पीछे से, खड़े-खड़े दोनों भाई, अपने भाग्य का स्वयं ही निपटारा करने लगे। अपने गुरु-जनों के आज्ञोल्लंघन की बात रह-रह कर उनके विचारों में आती थी। उस निर्जन स्थान में, असहाय होने का अन्धकार उन की आँखों में था। कल, जिस लोभ का हाथ, जवानी के जोश में आ कर उन्हों ने पकड़ा था, उस के प्रति, एक रत्ती-भर भी सहानुभूति, उनके हृदयों में अब न रह पाई थी। सच है, जब तक स्वयं को चपेट नहीं लगने पाती, लाख

भली बातें कोई कहे, मनुष्य-स्वभाव, उसे मानने के लिए कभी भूल कर भी उतारू नहीं होता।

मनुष्य का मन सरलता का अनुगामी है। लोग, लम्ब और आधार के संयुक्त तथा लम्बे, किन्तु पक्के मार्गों को छोड़ कर, कर्ण-रूप सीधे, किन्तु कटीले मार्गों का अनुगमन करना सदा से पसन्द करते आये हैं। यह सब कुछ होता है। इतने पर भी, लोग, अपने प्राणों तक को संकट में डाल कर, आत्मोन्नति के अर्थ, अनुभव भी अनेकों, सदा करते ही रहते हैं। देवी ने दक्षिण के बाग में पैर रखने की सख्त मुमानियत की थी। उस बात ने, तो उसे देखने की उत्कंठा को और भी उदग्र कर दिया। इस एकान्त जीवन से मृत्यु का आलिंगन भी अब उन्हें सुखद एवं शीतल जान पड़ने लगा था। निःशंक हो कर, दोनों उस-ओर चल ही पड़े। निकट आते ही, वहां की सड़ान से, उन का नाक और सिर सड़ने लगा। आँखें ज़रा और भी दूर फेंकी, तो सामने की ओर, वृक्षों के झुरमुट में, अस्थि-पंजरों का एक बड़ा भारी ढेर नज़र आया। वे उस के निकट गये। पड़ोस ही में, एक ज़िन्दे मनुष्य को, जो शूली पर लटकाया ही जानेवाला था, खड़ा देखा। वे उस से पूछने लगे, " भाई! तुम्हारी यह दशा क्या? और, हड्डियों का हृदय-विदारक यह ढेर यहाँ कैसा? " " भाई! इस द्वीप में तुम्हारे पैर रखने के कारण ही मेरी यह दशा हुई है। जब कभी भी, कोई नया व्यक्ति उस चंडिका के हाथ यहाँ चढ़ पाता है, पुराने की, दीर्घकाल से, यही गति, उस के द्वारा होती आई है। आज या कल, तुम्हें भी यहाँ इसी घाट उतरना पड़ेगा। दुर्दिन के मारे, ऐसे ही अभागे व्यक्तियों के अस्थि-पंजरों का ढेर यह है। " बात सुनते ही

दोनों भाइयों के होश गगन में गुम हो गये। "बचने का कोई उपाय भी, है? भाई!" वे लड़खड़ाती हुई जबान में उस से बोले। "हाँ, हाँ! है क्यों नहीं? मुझ से पहले के, इसी शूली पर लटकने वाले भाई ने, वह उपाय मुझे सुझाया था। इस चंडिका के प्रेम-पास में फंस कर, वह उपाय मेरे लिए तो बेकार हुआ। परन्तु मरते-मरते, तुम्हें तो मैं उसे बता ही दूँगा। उसे काम में लाना, न लाना, फिर तुम्हारा काम है। पूर्व के बाग में 'शेलक' एक यक्ष रहता है। अष्टमी चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रकट हो कर, 'किसे तारूँ? किसे पार उतारूँ?' ऐसे उद्गार वह घोषित करता है। उस समय, उपस्थित रह कर, 'हमें दुख से छुड़ाओ! हमें पार उतारो!' आदि प्रार्थना तुम उस से करो। बस, तुम्हारे बचने का यही एक राज-मार्ग है।" उत्तर में उसने कहा।

दोनों भाइयों ने उस का बड़ा उपकार माना। और, दौड़े-दौड़े पूर्व के बगीचे में वे आये। नियत स्थान पर पहुँचे। उस दिन भी उस के प्रकट होने की बारी थी। यक्ष समय पर प्रकट हुआ। और, जैसा उस आदमी ने कहा था, घोषित करने लगा। तब उन दोनों भाइयों ने, कष्ट से छुड़ा कर, समुद्र से पार उतार ने की प्रार्थना, उस से की। यक्ष बोला, "अच्छा! उपाय तो मैं तुम्हें बताये देता हूँ। पर काम में उसे उतारना, तुम्हारा काम है। जिस क्षण, मैं तुम्हें पार उतारूँगा, वह चंडिका, सोलह शृंगार और बारह आभूषणों से सज-धज बड़े ही मनोरम रूप को धारण कर, तुम्हारे सम्मुख आ खड़ी होगी। बीसियों प्रकार के प्रलोभन और आश्वासन वह तुम्हें देने की चेष्टा करेगी। लाख लल्लोपत्तो कर-कर के, तुम्हें लौटाने की

बातें वह करेगी। पर उस के कहने पर जरा भी कान तुमने कभी न देना। इस के विपरीत, उस के वचनों में, तुम में से कोई, जरा भी मोहित हुआ, कि उसी क्षण, अपनी पीठ से, मैं उसे उतार फेंक दूंगा। परन्तु मेरे वचनों पर दृढ़ यदि बने रहे, तो सहज ही में पार भी मैं लगा दूंगा।" यूँ कह, उस यक्ष ने घोड़े का रूप धारण कर लिया। दोनों भाइयों को अपनी पीठ पर चढ़ाया। तब चम्पा नगरी की ओर वह चला। रत्नदेवी ने भी इस बात को किसी तरह जान लिया। वह भी चट चंडिका के प्रचंड वेष में वहां आ पहुँची। और, मानो, जैसे वह उनकी सचमुच में प्रेयसी ही कोई हो, उसी रूप में, उन के वियोग में, भाँति भाँति के आलाप-विलाप, उन्हें सुना-सुना कर, वह करने लगी। उस के इन कपट-पूर्ण, किन्तु करुणा और प्रेम-सने शब्दों का जिन-पाल पर तो जरा भी असर न पड़ा। परन्तु जिन-रक्ष उस की वाग्-जाल में, जर्जरित हो कर, फँस गया। उसके प्रेम में वह पागल हो गया। पूर्व में, उस के साथ किये गये क्रीड़ा-विनोद और प्रेमालाप का रह-रह कर स्मरण उसे हो आया। अपने उद्धार की पर्वाह न कर, उसने उसकी ओर अन्त में देख ही लिया। यक्ष ने यों पतित होते उसे देख, अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार, पीठ पर से उतार उसे फेंका। चंडिका तो यह चाह ही रही थी। आते ही, जिन रक्ष का काम उसने तमाम कर दिया। फिर जिन-पाल को भी लाख-लाख प्रयत्नों से वह ललचाने लगी। परन्तु प्रतिज्ञा-वीर जिन-पाल को अपने प्राणों की पड़ी थी। उस ने उस की रीझ और खीझ की तनिक भी पर्वाह न की। यह उस की अग्नि-परीक्षा थी। पर वह उस में सोलह आना सफल हुआ। देवी, थक कर

लौट पड़ी। यक्ष ने, जिन-पाल को, आनन्द, चम्पा के बाग में जा उतारा। घर जा कर, माता-पिता के चरण उस ने छूए। छोटे भाई के दुर्दान्त और दयनीय अन्त की कथा उसने उन्हें कही। बड़ों की आज्ञोल्लंघन करने पर, किन-किन घोर विपदाओं को उन्हें सहना पड़ा, सब ज्यों की त्यों कह सुनाई। कुछ काल तक आनन्द-पूर्वक वे रहे। एक दिन एक निर्ग्रन्थ मुनि वहाँ पधारे। उन के उपदेशों का जिन-पाल पर जादू-सा असर गिरा। तब तो उसी समय दीक्षित हो कर मुनि वे बन गये। उस रूप में अनेकों करारी तपस्याएं उन्हों ने कीं। ज्ञान भी कुछ कम सम्पादन नहीं किया था। अन्तिम दिनों सन्थारा धारण कर, मोक्ष में सिधारने के लिए, प्रथम स्वर्ग में वे जा विराजे।

मातु-पिता-गुरु-स्वामि-सिख; सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम-कर; न तरु जनम जग जाय॥

२५

अमर-कुमार

वीर भगवान् महावीर के समय, महाराज श्रेणिक (बिम्ब-सार) राज-गृह में राज करते थे। वहाँ ऋषभदत्त नामक एक निर्धन ब्राह्मण रहता था। उसके चार पुत्रों में से सब से छोटे का नाम अमर-कुमार था। वह जन्म ही से सत्संग-प्रेमी था। कुमार के हृदय को कोमल और निष्कपट देख एक दिन एक मुनि-राज ने 'नवकार' महा-मन्त्र इसे सिखला दिया। मुनि के

श्रीमुख से, " यह, विषय-व्याल के लिए महा-मणि है; यह, कर्म की रेख में मेख मारने वाला है; यह, वह अमोघ-शक्ति है, जिस के वल भाग्य के कठिन कुअंक भी सहज ही में पलट जाते हैं, यह सर्वोत्कृष्ट मंगलकारी एवं आनन्द का आधार है, भव-सिन्धु की वैतरणी के पार जाने के लिए, यह, दृढ़ जल-पोत है, उसके इस महात्म्य को सुन कर तो, उस में उसकी अगाध श्रद्धा हो गई। वह विधान के साथ, नित्य उसका जप-जाप निष्काम भाव से करने लगा।

एक दिन महाराज श्रेणिक ने, एक विशाल भवन के रच-वाने का विचार किया। दूर-दूर के सैकड़ों शिल्पयों को बुला-या गया। राज-प्रसाद का काम प्रारम्भ हुआ। परन्तु " नौ दिन चले अढ़ाई कोस" की कहावत के अनुसार, महल का जितना भी भाग दिन में वन पाता, रात में पुनः ढह जाता। अनेकों उपाय किये गये। लब्ध प्रतिष्ठा और कार्य-कुशल अ-नेकों इंजीनीयरों ने, दिन-रात एक कर, अक्ल दौड़ाई; परन्तु सब उपाय जड़मूल से बेकार सिद्ध हुए। किसी की भी करामात वहाँ कारगर न हुई। जब विज्ञान और उस के धुरन्धर भक्तों की कुछ अक्ल न चली, अन्ध श्रद्धालु लोगों के साथ सलाह-मशविरा तब किया गया। और, उनकी राय-शरीफ से यह तय किया गया, कि एक सुलक्षण-सम्पन्न पुरुष का वलिदान वहाँ किया जाय। तदनुसार, उपर्युक्त पुरुष की माँग और बदले में उसी के तौल का सुवर्ण देने की राज-घोषणा, राज्य-भर में हुई। ऋषभदत्त के कानों पर भी यह बात पड़ी। दरिद्रता का मारा तो वह जन्म ही से था। अभी-अभी तो उस के भाग्य यहाँ तक फूट चुके थे, कि जहाँ भी आशा लगा कर वह जाता।

दो धक्के दक्षिणा में वह पाने लगा था। इसकी स्त्री की ताना-कशी ने तो, इस के हृदय को और भी टूक-टूक कर दिया था। राज-घोषणा के सुनते ही, अपनी स्त्री के पास वह दौड़ा गया। और, बोला, "तू प्रति दिन धन के लिए माथाकूट मुझ से करती है। ले, खोल छाती! और, तेरे चार पुत्रों में से एक को सौंप राजा के हाथ! बदले में, उसी के तौल का सुवर्ण, तेरे घर आकर अभी पड़ा जाता है! बोल! है हिम्मत?" स्त्री की नस-नस फड़क उठी। धन की प्राप्ति के लिए अन्धा संसार क्या-क्या नहीं करता! गरीब से गरीब और अमीर से अमीर हर एक चाहता है, रात-दिन प्रयत्न करता है, सत्य और शील, सद्गुण और सद्धर्म, सभी का एक क्षण में खातमा वे कर सकते हैं, यदि, लक्ष्मी उन की बगल में आने को लालायित हो उठे; अथवा उन की हो कर रहने-भर की हाँई ही सिर्फ वह भर ले। पति के प्रस्ताव का हृदय से समर्थन हो गया। पड़ौस में बैठे हुए अमर कुमार ही को राजा के हाथ बेच देने का निश्चय हुआ। तदनुसार, दरबार को सूचित कर दिया गया। राजा तो टोह में पहले से था ही। तुरन्त सिपाही वहां आ धमके। अभागे कुमार को ज़बरन तुला पर चढ़ा दिया गया। और, बराबरी का सुवर्ण, राजा की ओर से ब्राह्मण के घर पहुँचा दिया गया। सिपाही अब उसे पकड़ कर ले जाने लगे। कुमार ने सैकड़ों नाच नाचे। रोया, चिल्लाया। पछाड़ खा कर गिर भी पड़ा। पिता को पुकारा। माता की मिन्नतें मानी। भाइयों को रक्षा के लिए पुकारा। गगन-भेदी नाद किया। पर सब के सब उपाय एक सिरे से बेकार सिद्ध हुए। क्योंकि, यहां तो रक्षक ही भक्षक बन बैठे थे। 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति'

का सौदा पट चुका था। तव कुमार की सुनने ही कौन लगा था? आखिरकार उसे राजा के सन्मुख पेश कर ही दिया। उस समय, कुमार की काया काँप रही थी। उसकी आखों से बहे हुए पानी के पनारे, उसे अलग ही डुबो रहे थे। मौत का विकराल खंजर उस के सिर पर लटक रहा था। फिर भी, रोता-विसूरता, राजा से वह बोला, "राजन्! आप, प्रजा के पिता कहलाते हैं। जो अनाथ, असहाय, और अपाहिज़ होता है, उस के सच्चे रक्षक एक-मात्र आप ही होते हैं। फिर, मुझ असहाय और अनाथ ही को होम के हवाले क्यों किया जा रहा है। क्या, प्रजा के नाते, मैं आप का पुत्र नहीं हूँ? अतः इस प्राण-नाशक संकट से आप ही मुझे उबारिये। आप शक्ति शाली हैं। शरणागत की रक्षा करना, आप का कर्तव्य और धर्म है।" "भाई! तेरा कहना सव ठीक है। मैं सव का रक्षक हूँ। परन्तु अभी तो सौदा, दामों में हुआ है। मेरा इस में दोष ही क्या? हाँ, मुफ्त में जो मैं तुझे लेता, तव तो अवश्य ही अत्याचारी, आततायी और अन्यायी मैं कहलाता! अतः मैं अब कुछ भी नहीं कर सकता।" राजा ने वदले में कहा।

अमर कुमार अब आधार हीन था। धधकते हुए अग्नि-कुंड के निकट वह लाया गया। उस समय, कुमार का रोम-रोम खड़ा होकर, उस के माता-पिता के स्वार्थ और राजा के अत्याचार की शिकायत कर रहा था। भक्त-हृदय की परीक्षा भी पूरी-पूरी होती है। निर्वल का वल राम होते हैं। जहाँ अप-वल, तपवल, वाहुवल और दाम-वल सिर पकट-पकट के, हार मान वैठते हैं, वहाँ प्रभु का नाम-स्मरण ही हारे हुए का हाथ आ कर पकड़ता है। कुमार को न-व-का-र महा-मंत्र की अमोघ

शक्ति की स्मृति आई। हवन-कुंड के किनारे पर खड़ा-खड़ा ही कुमार ध्यान-मग्न हो कर, उस का जप वह करने लगा। उधर होता (होम-कर्ता) लोगों ने पूर्णाहुति दी: और, कुमार को हवन-कुंड में धकेल दिया गया। धधकती हुई अग्नि ने दिव्य सिंहासन का रूप बना कर, कुमार का स्वागत किया। भय, उस से अब कोसों दूर था। कुमार की इस गति को देख कर, सभी होताओं के होश-हवाश ढीले पड़ गये। वे अचेत हो कर, धड़ाम से धरती पर गिर पड़े। इस प्रत्यक्ष चमत्कार को देख, राजा के अचम्भे का भी कुछ ठिकाना न रहा। राजा का सिर, लज्जा, भय और अत्याचार के कारण अब नीचा था। कुमार के चरणों में गिर कर, उस ने अपनी दीर्घ-दर्शिता दिखाई; अपने अपराध की क्षमा उस ने चाही। देव-वाणी ने, कुमार के धवल यश का गगन-भेदी गान, अलग ही किया। देव-वाणी ही के अनुसार, कुमार का चरणोदक ले कर, अचेत व्यक्तियों पर छिड़का गया। और वे सब के सब स्वस्थ हो कर उठ बैठे। उन में से भी प्रत्येक ने, बारी-बारी से, कुमार के चरण छूकर, अपने अपराध की क्षमा चाही। राजा ने तो कुमार को अब राज तक दे देने को कहा। परन्तु कुमार की आँखों में नवकार महामन्त्र की अमोघ शक्ति के आगे, यह सब धूल था; माया-मरीचिका का दिखावा था; सांझ के अम्बर-डम्बर का दृश्य था। संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति और वैभव, उस के मन को मोहित करने में असमर्थ और जड़ थे। राजा को सम्बोधन करता हुआ, कुमार बोला " सांसारिक बड़े से बड़ा वैभव भी, राजन्! आखिर कार क्षण-भंगुर ही तो है। मुझे रत्ती-भर भी इन की चाह नहीं। मैं तो अब वह कार्य करूंगा, जिस से अक्ष-

य सुख की अखंड प्राप्ति हो। न-व-का-र महामन्त्र के, क्षण-भर के जाप-मात्र से, मेरी यह घोरातिघोर विपदा, जब बात ही बात में ढल गई, तब जीवन-भर इस का जाप करने से तो मुक्ति अवश्य ही मुँह-माँगी मिल सकेगी। इस में अचरज ही क्या! बस, अब तो दिन-रात मैं इसी का स्मरण करता रहूँगा। इस के बल मुझे पूर्ण विश्वास है, अक्षय सुख मेरा और मेरा, हो कर के रहेगा।" यों कह, दीक्षा ले, कुमार वन की ओर चल दिया।

अमर-कुमार अब मुनि-अमर-कुमार बन गये। और, एक विशाल वृक्ष के तले ध्यानस्थ हो कर वे ठहर गये। इधर, कुमार की माता को प्राप्त सुवर्ण के छिन जाने की शंका हुई। वह मनही मन तरह-तरह के मनसूबे बाँधने लगी। वह सोचती थी, "यदि राजा दिया हुआ सुवर्ण, पीछा माँगेगा, तो उस के पहले ही, मैं छुरे से अपने पुत्र का काम तमाम कर दूँगी। फिर तो जब लड़का ही जिन्दा न रहेगा, तो सुवर्ण वह माँग ही किस प्रकार सकेगा! इतने पर भी उसने अपनी हट यदि न छोड़ी तो मैं बदले में पुत्र को माँग बैठूंगी। पर कुमार को न पाकर, सोना हमारे ही पास रहेगा।" यूँ सोचती-समझती एक पैने छुरे को हाथ में ले, वह कुमार के पास, वनस्थली की ओर गई। कुमार ध्यानमग्न वहाँ बैठे ही थे। जाते ही उस ने छुरा उन के पेट में भोंक दिया। मुनि क्षमाशील थे। सचमुच में अमर भी उन्हें बनना ही था। माता की करणी पर, जरा भी रोस उन के मन में न आया। वे सागर के समान गम्भीर और मेरू-गिरि के समान, अपने ध्यान में अचल रहे।

माता घर की ओर लौट चली। पुत्र-हत्या के घोर पाप से

उस के पैर अब लड़खड़ा रहे थे । मार्ग ही में एक सिंहनी ने उसे देखा । और, उसका काम, बात की बात में तमाम कर-दिया । उसके फल-स्वरूप, घोर नर्क में जा कर वह जन्मी । अमर-मुनि भी, आयुष्य को पूर्ण कर, भविष्य में मुक्ति के साथ, सदैव के लिए, वरण करने के लिए, स्वर्ग में जा सिधारे ।

न-व-का-र महा-मन्त्र की शक्ति का सुन्दर परिचय संसार को मिला । क्या, हम भी, इसके जप-जाप से, लाभ उठाने की कोशिश कभी करेंगे ? क्या, आज के अन्धकार में यह हमारे लिए Search Light (प्रकाश-स्तम्भ) का काम न देगा ? क्या, आज की हमारी बेकारी को, इस की भव-भय-नाशिनी शक्ति, दूर न कर देगी ? विश्वास, व्यवस्था और निष्काम-भाव की त्रिवेणी में नहा कर, एक बार आज हम इसकी आराधना तो करें ।

खन्धक-मुनि

एक समय सावत्थी-स्यालकोट में महाराज कनककेतु राजा थे। प्रजा-पालन को वे अपना प्रधान कर्तव्य मानते थे। महारानी का नाम मलया-सुन्दरी था । खन्धन-कुमार उन के पुत्र थे। समय पर, समुचित प्रबन्ध हो जाने के कारण, कुछ ही काल में; कुमार बहत्तर कलाओं के स्वामी और नीति के नेता बन गये थे। कुमार अभी कुमार ही थे, कि एक दिन,

बस्ती में विजय-सेन मुनि का शुभागमन हुआ । " आत्मा का उत्थान कैसे हो, " इस विषय पर उन्हों ने यथेष्ट प्रकाश डाला। मुनि के प्रभावोत्पादक और आत्म-कल्याण-कारक उपदेश से, कुमार का मन वैराग्य में रंग गया। वे मुनि से बोले, " भगवन् ! मैं भी इसी मार्ग का अनुयायी हूँ। मुझे भी, मेरी शक्ति के अनुसार, कोई मार्ग दिखाइये, जिस के बल, भव-सागर से मैं भी सहज ही में पार लग सकूं। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर, मैं भी दीक्षित होना चाहता हूँ। " " तुम्हें जिस प्रकार भी सुख हो, करो, " मुनि-ने बदले में कहा । माता-पिता के पास आकर, कुमार ने दीक्षार्थ आज्ञा मांगी। और, पुनः मुनिराज के पास जाकर, दीक्षित वे हो गये। थोड़े ही समय में, यथेष्ट ज्ञान प्राप्त उन्हों ने कर लिया। यहाँ तक, कि अकेले ही विचरण कर, शास्त्र-सम्मत उपदेश देने के अधिकारी भी वे बन गये। एक दिन, अकेले में विहार उन्हों ने कर भी दिया। माता-पिता को यह बात मालूम होने पर, पांच सौ सुभटों की एक टोली, शरीर-रक्षक के रूप में, उन्हों ने तैनात कर दी। साथ ही उन्हें यह भी समझा दिया, कि कुमार-मुनि को कहीं भी कोई कष्ट न हो। वे पूरी-पूरी देख-भाल करते हुए, गुप्त रूप से, उन के आस-पास ही सदा-सर्वदा रहें।

विचरते-विचरते, मुनि, कुन्ती नगर के बाग में पधारे। मास-खमण की तपस्या का पारणा उन को उस दिन था। गोचरी के लिए फिरते-फिरते राज-महलों के नीचे से वे निकले। पुरुष सिंह वहाँ के राजा थे। और खन्धक मुनि की बहिन सुनन्दा का विवाह इन के साथ हुआ था। उस समय, राजा और रानी दोनों महल के गवाक्ष में बैठे हुए चौपड़-पासा खेल

रहे थे। अचानक, रानी की निगाह मुनि के ऊपर उस क्षण पड़ गई। उन्हें देखते ही अपने भाई का भान हो आया। अतः खेल से कुछ दिल उन का हट गया। परन्तु राजा ने इस का कुछ और ही मतलब समझा। रानी और मुनि के बीच कुछ अनुचित सम्बन्ध होने की मन में आशंका करते हुए, चौपड़ को वहीं छोड़, मन ही मन कुछ झल्लाते हुए, वहाँ से वे उठ बैठे। दरबार में आ, जल्लादों को उन्हों ने बुलाया। और, मुनि के सारे शरीर की खाल उतार डालने की कठोर आज्ञा उन्हों ने उन्हें दी। आज्ञा मिलते ही जल्लाद, मुनि के पास, जा धमके। वे गोचरी के लिए इधर-उधर अभी घूम ही रहे थे। कहीं भी निर्दोष भोजन-पानी उन्हें अभी तक मिला नहीं था। जल्लादों ने राजाज्ञा उन्हें सुनाई; और, स्मशान की ओर उन्हें वे ले चले। इस सन्देश को पाकर भी मुनि पहले ही जैसे स्वस्थ थे। राजा और जल्लादों के प्रति, किंचित्-मात्र भी द्वेष उन के दिल में नहीं था। शरीर का मोह तो, दीक्षा के प्रथम दिन से ही वे छोड़-छाड़ बैठे थे। हँसते-हँसते स्मशान-भूमि में वे आ पहुँचे; और, प्रभु के ध्यान में निमग्न वे हो गये। जल्लादों ने अपना काम शुरू किया। और, बात की बात में, खरबूजे का छिलका जैसे उतारा जाता है, ठीक उसी तरह, मुनि की खाल उन्हों ने उतार फेंकी। मुनि ने उफ़ तक न किया। वे वैसे ही अविचल ध्यान में मग्न रहे। उन की क्षमा-शील आत्मा, दिव्य केवल ज्ञान को प्राप्त कर, अलौकिक तथा अक्षय सुख के स्थान, मोक्ष में जा विराजी। सच है, बादल के बिना, जैसे बिजली का प्रकाश कभी हो ही नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार, विपत्ति के बिना, मनुष्य के वास्तविक गुणों का प्रकाश भी कभी हो ही

नहीं पाता। जगत् जिसे सब से बुरी बुराई समझता है वही वास्तव में सब से अधिक भलाई करने वाली होती है। इस आकस्मिक विपदा ही ने मुनि को असमय ही में मोक्ष-धाम में पहुँचा दिया।

मुनि के पाँचसौ सुभट-साथी, यह समझ कर, कि यह तो खास कर के मुनि के बहिन-बहिनोई ही की बस्ती है, वहाँ हमारी इतनी कोई आवश्यकता ही नहीं है, मुनि के साथ, उस समय न रहे। परन्तु इस दुर्घटना का सन्देश सुनते ही, उन की सारी निर्भयता और निशंकता, शशक-शृंग के समान उड़ गई। वे शीघ्र ही कुन्ती नगर में आये। और, राजा के पास, फ़ौरन् बन, वे पहुँचे। राजा को मुनि का सारा परिचय उन्हों ने दिया। इस से राजा का कलेजा काँप उठा। उन्होंने अपनी करणी पर, घोर पश्चात्ताप प्रकट किया। मुनि की बहिन के कानों भी यह बात पड़ी। बन्धु-निधन पर वह भी अपने बल-भर रोई बिसूरी। "बहिन बहिनोई का साले के साथ यह हृदय-विदारक अत्याचार सुन, मेरे माता-पिता क्या कहेंगे; मुझे किस तरह वे धिक्कारेंगे; भाई ने यहां आने पर, हम किसी को अपना परिचय तक नहीं दिया;" यह सोच-सोच कर, वह बेहोश-सी हो गई।

यह बात, बिजली की तरह, बात की बात में शहर में फैल गई। चारों ओर, राजा के अविचार-पूर्ण कुत्सित कर्म की निंदा होने लगी। मुनि-वध से नगर में हाहाकार मच गया। ऐसे ही अवसर पर, धर्म-घोष मुनि का शुभागमन वहाँ हुआ। राजा-रानी दोनों भी समय पाकर मुनि के वन्दनार्थ गये। राजा ने, अन्थ से

इति तक, इस दुर्घटना का सारा इतिहास, मुनि के आगे कह सुनाया। साथ ही, वह कुकृत्य उन के द्वारा क्यों हो पाया, उस का कारण भी उन्हों ने उन से पूछा। "राजन्! तुम पूर्व भव में, काचरे के एक जीव थे। और, खन्धक एक राज कुमार ही। इन्हों ने बड़ी ही प्रसन्नता-पूर्वक, उस काचरे का छिलका उतार फेंका था। उसी का, इस जन्म में, तुम ने यह वैर-बदला लिया है। और, कुछ नहीं। ऋण और वैर का बद-ला, लाख प्रयत्न कर के कहीं भी कोई जावे, अवश्य उसे चुकाना ही पड़ता है। और, वह भी चक्र-वृद्धि व्याज के साथ। अतः मन में वैर और बदले की भावना तो, कभी भूल कर भी न रखनी चाहिएं। प्राणी, इन्हीं के चक्कर में आ कर, आवा-गमन के पंजे में फँसता है। आत्म-कल्याण और आत्मोन्नति के राज-मार्ग में, ये बड़े भारी बाधक हैं। क्या, धर्म-शास्त्र और सन्तों के, इस अनुभव का उचित लाभ, हमें न उठा लेना चाहिए? यदि हाँ, तो आज ही से हमें प्रतिज्ञा कर लेनी चा-हिए, कि वैर और बदले की भावनाओं को हम कभी पास तक न फ़टकने देंगे। बस, इसी में हमारा, हमारे कुटुम्ब तथा जाति का और हमारे स्वर्गोपम देश का उत्थान है।" मुनि ने समझा कर कहा। मुनि के इन सत्य और हित-प्रद वाक्यों से, उन पाँच ही सौ सुभटों और राजा तथा रानी का हृदय संसार से फिर गया। तब तो, आत्म-कल्याण और अक्षय सुख की प्राप्ति के हित, साधु वे बन गये।

२७

राजर्षि-प्रसन्नचन्द्र

भगवान् महावीर के समय, पोतनपुर नामक नगर में, महाराज चन्द्रगुप्त के सुपुत्र 'प्रसन्न-चन्द्र' राज करते थे। यौवन और वैराग्य, एक ही साथ, इन के जीवन में, इन के निकट आये। संसार की नश्वरता, यौवन की अस्थिरता और अल्हड़पन तथा अधिकार की मादकता के कई उदाहरण सन्त और शास्त्रों के द्वारा, समय-समय पर इन्होंने सुन रखे थे।

अतः स्वभावतः अपने सांसारिक राज्य की अपेक्षा, वैराग्य के साथ, आत्म-राज्य में विचरण करना ही इन्हें अच्छा लगा। समय आया। विचारों में दृढ़ता हुई। अन्त में एक दिन, अपने इरादे के अनुसार, राज्य का सारा भार, अपने नव-वयस्क कुमार के कन्धों रख, भगवान् की शरण में जा, आप दीक्षित हो ही गये। सच है, "where there is a will, there is a way" केवल भाव-शुद्धि और दृढ़ता की आवश्यकता है। फिर, संसार की कोई भी शक्ति मार्ग में आ कर, मचल नहीं सकती।

स्थान-स्थान में धर्म का शुभ सन्देश देते हुए, एक दिन भगवान् राजगृह में पधारे। लोग, दर्शनों के लिए लालायित पहले ही से हो रहे थे। भगवान् के आगमन ने उन की उस लालसा को और भी भड़का दिया। वे उनके दर्शनों के लिए, बरसाती नदी-नालों की बाढ़ की भाँति उमड़ पड़े। वीर प्रभु के दर्शन और पवित्र प्रवचनों से, अपने दैहिक और भौतिक तापों का शमन कर के जनता घर लौटी। उसी दिन, प्रसन्न-चन्द्र मुनि ने भी भगवान् की आज्ञा को सिर आँखों रख, वन की ओर प्रस्थान कर, ध्यान धारण किया।

एक दिन कुछ बटोहियों ने मुनि को ध्यानस्थ देखा। वे परस्पर कहने लगे, "मुनि ने अपना आत्म-कल्याण भले ही सोचा हो; पर पुत्र के पैरों, तो कुल्हाड़ी इन्होंने मार दी। पुत्र अभी सयाना भी नहीं हो पाया था, कि हिमालय पर्वत-जैसे भारी राज्य का भार, इन्हों ने उस के सिर दे मारा। इस से शत्रुओं की सोलह आना बन पटी है। ना-बालिग़ कुमार पर किसी-किसी ने तो हमला तक बोल दिया है।" वन की बीहड़ता ने बटोहियों के उन बोलों को और भी बीहड़ बना दिया।

प्रतिध्वनि के द्वारा, ध्यानस्थ मुनि के कानों में उन का प्रवेश हुआ। बस, मुनि का मन, धर्म-ध्यान से सर्वथा फ़िसल पड़ा। और, फ़िसलते-फ़िसलते, आर्त्त तथा रौद्र ध्यान की प्रचण्ड वेगवती सरिताओं की बाढ़ों में वह आ फँसा। मुनि-पद की मर्यादा ने उस क्षण उन का साथ छोड़ दिया। अपने बनते बल. शत्रु का किसी भी प्रकार संहार करने का भाव, उन के हृदय में जागृत हुआ। इसी भाव ही भाव में, अपने सेनापति और शत्रु-दल-संहारिणी, वीर योधाओं की एक सेना की रचना तक उन्हों ने कर ली। उन्हें रणाङ्गण में जा कर, शत्रुओं का शमन करने का हुक्म तक दे दिया गया। और रण-भूमि में जाने के लिए आप भी जिरह बख़्तर पहनने को उठ खड़े हुए। इस भाव-भय-राज्य में विचरण करते हुए, मुनि के दोनों हाथ, जिरह—बख़्तर पहनाने के बहाने, उन के सिर की ओर पहुँचे।

उसी क्षण, राजा श्रेणिक, भगवान् की सेवा में उपस्थित थे। उन्हों ने वीर प्रभु से पूछा, "भगवन्! वन-स्थली में ध्यानस्थ खड़े हुए प्रसन्नचन्द्र मुनि यदि इस समय आयुष्य पूर्ण करें, तो वे कहाँ जा कर उत्पन्न हो सकते हैं?" इस पर, "सातवें नर्क में," भगवान् ने कहा। भगवान् के उस उत्तर से, श्रेणिक के सिर में कुछ चक्कर-सा आगया; और आँखों के आगे अन्धकार छा गया। यही नहीं, वैराग्य के त्याग-पूर्ण जीवन के प्रति, गहरी घृणा भी उन के हृदय में हो आई। फिर भी, भगवान् के वाक्यों में उन की श्रद्धा थी, भक्ति थी, और था, अटल विश्वास। यही कारण था, कि अपनी शंका-समाधान के उचित समय की प्रतीक्षा करते हुए, कुछेक क्षणों के लिए, वे ठिठुक-से रह गये।

संसार, प्रति पल परिवर्तन शील है। उधर ध्यानस्थ मुनि का मन भी पलट चुका था। यह दुर्दम्य मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। सिर की ओर हाथ बढ़ाते ही, राजर्षि प्रसन्नचन्द्र मुनि के विचारों की दिशा एक दम बदल गई। उन्हें अपने साधुत्व का स्मरण हो आया। एक ओर, संसार का एकान्त त्याग; और, दूसरी ओर, पुनः मार-काट तथा संग्राम से सम्बन्ध! संसार के ये गँदले विचार उन के हृदय में आये ही क्यों? इस के लिए, मुनि बार-बार आत्म-धिक्कार के शिकार बनने लगे। मन की अगम गति का सच्चा-सच्चा पता मुनि को आज लगा। वे उसे बार-बार धिक्कारने और समझाने बुझाने लगे। वे कहने लगे, "एक बार साहस कर के सिंह की मूँछों पर भी हाथ कोई रख सकता है; परन्तु मन को मसोस कर, उसे अपने हाथों में कर लेना, सचमुच में, महान् कठिन काम है। इसीलिए वीत-राग प्रभु ने भी तो फ़र्माया है, कि।

" एगे जिए जिया पंच; पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं; सव्व-सत्तु-जिणा महं॥ "

भावों की इस एकान्त शुद्धता के कारण, मुनि के सम्पूर्ण घनघाती कर्मों का उसी क्षण नाश हो गया। और, कर्म-नाश से कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति उन्हें हो गई। जिसके उपलक्ष्य में, आकाश की दशों दिशाओं से आ-आ कर, देवी तथा देवता लोग, कैवल्य-प्राप्ति-महोत्सव को मनाने लगे। उसी क्षण, वीर भगवान् की सेवा में उपस्थित राजा श्रेणिक ने, उन देवी देवताओं को, आकाश-मार्ग में इधर-उधर हर्षित हो कर जाते हुए देखा। उन्हों ने भगवान् से इस का कारण पूछा। उत्तर में

राजर्षि-प्रसन्नचन्द्र ध्यानस्थ खड़े हैं।

" श्रेणिक ! कुछ ही क्षण पहले जिन मुनि के सम्बन्ध में तूने मुझ से पूछा था, उन्हीं को अब कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हो चुका है। उन्हीं के कैवल्य-प्राप्ति-महोत्सव को मनाने के लिए, ये देव-गण, इधर से उधर और उधर से इधर दौड़-धूप मचा रहे हैं:— " भगवान् ने फर्माया। भगवन् ! क्या, कैवल्य-ज्ञान ? अभी कुछ ही क्षणों के पहले, जिस के लिए सातवाँ नर्क सजाया जा रहा था, उसी को कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति ? रसातल और स्वर्ग का यह सम्बन्ध कैसा ? बात ही बात में, राई और पर्वत के इस अन्तर का रहस्य घट कैसे गया ?" आश्चर्य में आकर, श्रेणिक ने भगवान् से विनम्र होकर पूछा। भगवान् ने फ़र्माया, " राजन् ! चकित होने की इस में कोई बात नहीं। यह मन ही है, जिस के फेर में पड़कर, मनुष्य, नारकीय एक क्षण में बन सकता है। और, उसी को अपने अधिकार में कर लेने पर, वही मनुष्य, दूसरे क्षण में स्वर्ग का एकच्छत्र शासक भी सहज ही में बन सकता है। एक क्षण में मुनि के विचार इतने मैले हो गये थे, कि उस समय यदि मृत्यु वे पा जाते, तो अवश्य सातवें नर्क में जाकर जन्म वे पाते। परन्तु दूसरे कुछेक क्षणों में ही मुनि के मन में सत्-विवेक का विचरण हुआ। ' राजा कालस्य कारणम् ' सत्-विवेक राजा के हृदय-देश में रहते हुए, कलुषित भाव मुनि के हृदय में फिर पनपने ही कैसे पाते ! हृदय में विवेक विराजमान होते ही, सारे घन-घाती कर्मों का मूलोच्छेदन हो गया। बस, इसी से कैवल्य-ज्ञान की सम्प्राप्ति उन्हें हो गई है। अतः तुम भी जब तक जीओ, मन के एक-मात्र मालिक बन कर ही रहो। मन की एक क्षण-मात्र की गुलामी में रहना, रौरव नर्क में

जाकर जन्म-भर विताने से भी बदतर है। येही दो बातें, स्वर्ग की सुन्दर सड़कें हैं; निर्वाण-के राज-मार्ग की प्रकाश-स्तम्भ हैं। अस्तु।

२८

मेघ-मुनि

राज-गृह के महाराज श्रेणिक की रानी का नाम धारिणी था। एक दिन उसने रात में एक स्वप्न देखा। वह शुभ था। अतः उस के बाद वह सोई नहीं। स्वप्न-शास्त्रज्ञों का कथन है, कि शुभ स्वप्न देखने पर सोने से उस का फल नष्ट हो जाता है। इसी के कुछ दिनों के बाद, उसे अऋतु में मेह के बरसने और हरियाले के दृश्य को देखने का एक डोहला आया।

अभय-कुमार ने उस की इस हार्दिक भावना की पूर्ति कर दी। समय पूरा होने पर, रानी ने 'मेघ-कुमार' नामक एक सुन्दर पुत्र को प्रसव किया। वह आदित्य के समान तेजस्वी और बृहस्पति के समान बुद्धिमान था। अपने यौवन-काल के आगमन के पूर्व ही, वह बहत्तर कलाओं की शिक्षा में पारंगत हो गया। फिर यौवन का आगमन हुआ। धूम-धाम के साथ विवाह हुआ। कुछ काल योंही आनन्द-पूर्वक बीत गया। कुमार के जीवन का यह स्वच्छन्द समय था।

इसी बीच, एक दिन विचरण करते-करते वीर प्रभु उधर आ पधारे। दशों दिशाओं से आ-आकर जनता ने भगवान् की पीयूष-भरी वाणी का उचित लाभ उठाया। एक दिन मेघ-कुमार भी वहाँ जा पहुँचे। उर्वरा भूमि में वर्षा की बूँदों की पड़ने ही की देर होती है। ज्यों ही उन बूँदों का मिलन उस भूमि से हुआ, कि चट, पौधे पनप उठते हैं। मेघ-कुमार के हृदय की भूमि भी उसी प्रकार उर्वरा थी। बस, भगवान् की पीयूष-वर्षी वचनावलि की बूंदों के लगते ही, वैराग्य और सद्विवेक का पौधा उस में पनप उठा। जिस के फल-स्वरूप, वे अपने माता-पिता के पास गये। आज्ञा प्राप्त की। और, लौट कर, प्रभु की शरण में आ, दीक्षित वे हो गये।

आज पहली ही रात्रि थी। सोने के समय अन्यान्य सभी साधु-सन्तों ने अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर, अपने-अपने आसन बिछा लिये। मेघ मुनि की बारी सब से पीछे आई। अपने आसन का स्थान इन्हें दर्वाजे के तट पर मिला। रात्रि के समय साधुओं का बाहर-भीतर आना-जाना भी नियम-पूर्वक होता ही रहा। स्वभाव से ही, मेघ-मुनि के हाथ-पैर

तथा शरीर आदि भी बीच-बीच में ठुकराते ही रहे। सब के पैरों की धूल भी उन पर कुछ कम नहीं गिरी। इन हरकतों से, एक ही रात में, नवदीक्षित मुनि का मन, वैराग्य से विषम विरोध कर उठा। दीक्षित होने के पूर्व, सभी सन्त जन, बड़े अदब के साथ, उन्हें 'मेघ-कुमार' के आदर सूचक नाम से सम्बोधित करते थे। अब वह अदब और अदाएँ भी एक दम ग़ायब हो गईं। आज अपने को 'मेघो' के नाम से पुकारते सुन कर, उन के हृदय को गहरी चोट पहुँची। अतुलित राज-वैभव, अधिकार के मद, और अनेक दास-दासियों के बीच प्रेम से पले हुए, कल के 'राजकुमार मेघ', और आज के 'मेघ-मुनि', इन तरह-तरह के अपमानों को और अधिक समय तक सहन न कर सके। उन्होंने निश्चय किया, कि 'अभी तो पाव में एक पौनी भी नहीं कती है। सुबह होते ही, अपने भण्डोपकरण भगवान् के हाथों सौंप, अपने घर की राह लूँगा। वहाँ फिर, इस प्रकार का न तो कोई बाँस ही रह पावेगा; और न कोई बाँसुरी ही तब वहाँ बज पावेगी।" सुबह हुआ ही था, कि मुनि अपने इरादे के अनुसार, भगवान् के निकट पहुँच गये। अन्तर्यामी भगवान ने, उन के हृदयस्थ भावों को जान कर, उन के निकट आने के पूर्व ही, यूँ कहना शुरू कर दिया, "मुनिवर मेघ! क्या, एक ही रात में, और वह भी केवल मुनियों के ठल्ले-पल्ले-मात्र से, यूँ घबरा उठे? अपने गत-जन्म के कष्टों को तो कदाचित् तुम ने इस समय स्मरण भी न किया, होगा! अपने पर-भव की गाथा को तो ज़रा सुनो! उन दिनों, तुम एक हाथी के रूप में थे। वहाँ सात सौ हथनियाँ तुम्हारे साथ थीं। वैताढ्य पर्वत

के समीपस्थ, गंगा नदी के दक्षिण तट पर, बाँसों के वीहड़ वन में तुम रहा करते थे। प्रतिवर्ष, ग्रीष्म-काल के आगमन में, आँधियाँ चलतीं। बाँस टकराते। और, सारे वन में दावानल उन से फैल जाती। उन दिनों प्राण-रक्षा करने में कितना घोर कष्ट तुम्हें उठाना पड़ता। साधारण जन-समुदाय उस कष्ट का अनुभव नहीं कर सकता। बार-बार के इस कष्ट ने तुम्हारे कानों को खड़ा कर दिया। इस कष्ट का अन्त कर देने का, तुम सभी ने पक्का मनसूबा एक दिन किया। गंगा-तट की सील-दार भूमि का पता तुम ने लगाया, जो चार वर्ग-कोस की लम्बी चौड़ी थी। अपनी सूँडों और पैरों से वहाँ की भूमि के सारे झाड़-झंखड़ों को उखाड़ तुम ने फेंका। सूँड़ों में पानी भर-भर कर वहाँ छिड़काव लगाया। तब पैरों के बल उसे कई दिनों तक रौंदा। और, यूँ, उसे सदा के लिए एक सुन्दर और सपाट मैदान तुम ने उसे बना दिया। ग्रीष्म के आते ही फिर दावानल भड़की। तब तुम सब के सब आकर, उस मैदान में, मण्डलाकार खड़े हो गये। बनैले अन्यान्य पशु-पक्षी भी वहाँ दौड़े आये। और यूँ, अपने प्राणों की रक्षा उन्हों ने की। अन्त में, प्राण-रक्षा के बहाने, एक खरगोश भी वहाँ आ पहुँचा। परन्तु सारा मैदान खच-खच भर चुका था। पर, उसी समय, अपने शरीर को खुजलाने के लिए तुमने अपना एक पैर ऊपर किया। बस, खरगोश वहीं आकर दुबक रहा। शरीर को खुजला लेने के बाद, ज्यों ही धरती पर पैर तुम रख रहे थे, वहाँ एक खरगोश तुम्हें दिख पड़ा। उसी समय, तुम्हारी करुणा ने, उस के कँपकँपाते दर्द का हाथ पकड़ा। यही कारण था, कि तुम ने भी उस की प्राण-रक्षा करना उचित समझा।

करुणा के भाव से, उस छोटे-से प्राणी की रक्षा करने के नाते, अपना वह पाँव अधर में लटका रखना ही तुम ने उचित समझा। यूँ, पूरे-पूरे तीन दिनों तक, अपने तीन पैरों ही के बल, अपनी विशाल काया का भार सँभालते हुए, शान्त-भाव से तुम खड़े रहे। पश्चात्, आग शान्त हुई। इधर-उधर से आये हुए अन्य सभी पशु-पक्षी भी अपने दाना-पानी की खोज में, उठ-उठ कर वहाँ से चलते बने। यह देख कर, वह खरगोश भी वहाँ से खिसक गया। तुम ने भी तब अपने पाँव को भूमि पर टिकाने के लिए नीचे किया। किन्तु अचल रहने के कारण, खून का प्रवाह उस का बन्द हो चुका था। अतः वह अकड़ गया था। तब तुम और अधिक काल तक अपने को सँभाल न सके। धड़ाम से धरती पर गिर पड़े। उस समय तुम्हारे भावों में सोलह आना शुद्धता थी। सम-भावों से वेदना को सहते हुए, उसी काल, तुम मृत्यु को भी प्राप्त हो गये। और, वहाँ से सीधे तुम इस भव में आ कर जन्मे हो। उस भव में उस छोटे से एक प्राणी की प्राण-रक्षा कर के ही, इस जन्म में तुम एक श्रेष्ठ राज-कुल में आ कर जन्मे हो। तुम्हारे पर-भव के ताप की तुलना में, फिर यह ताप तो पासँग के बराबर भी नहीं है। तब हे मेघ! तुम अपने इस शरीर के एक छोटे से कष्ट को तो कष्ट समझ ही क्यों रहे हो ?"

भगवान् के इस बोध से मेघ मुनि की आँखें खुलीं। विचार करते ही उन्हें 'जाति-स्मरण-ज्ञान' हो आया। भगवान् के कथनानुसार, तब तो अपने विगत की उस सारी घटना को, प्रत्यक्ष-रूप से उन्हों ने देख भी लिया। वे भगवान् से बोले,— "भगवन्, अब आगे से मैं ऐसे विचारों को कभी पास तक

न फटकने दूँगा। सभी साधु-सन्तों की सेवा-शुश्रूषा करना, हर समय, मैं अपना कर्तव्य और धर्म समझूँगा। गँदले विचारों के उत्पन्न हो आने के कारण, प्रभुवर! मुझे, प्रायश्चित्त-स्वरूप, दुबारा दीक्षित कर अपनी चरण-शरण दीजिए।" तद्नुसार, भगवान् ने हर प्रकार से उन के भावों की शुद्धि की। आज से मेघ-मुनि, अपने नाम को सार्थक करने वाले मेघ-मुनि बने। जिस प्रकार आकाश-स्थित मेघ, जगत् के कल्याण के हेतु अपने अस्तित्व को धूल में मिला देता है, ठीक उसी भाँति, मुनि ने भी लोक-कल्याण की साधना में, अपने कर्तव्य-पथ को निश्चित किया। तब से त्यागी भी हुए। त्याग ही उन के जीवन का एक-मात्र ध्येय हुआ। थोड़े ही दिनों में उनके ज्ञान-ध्यान-और तपस्या की तरंगिणी प्रचण्ड-रूप से तरंगित हो कर उमड़ चली। जिस से जगत् आप्लावित हुआ। अन्त में, विपुल-गिरि पर सन्थारा ले कर, सीधे मोक्ष में वे सिधार गये।

सच है, ज्यों मेघ के बिना बिजली की दमक असम्भव है, ठीक वैसे ही बिना विपत्ति के मनुष्य के वास्तविक गुणों का विकास भी कभी नहीं हो पाता।
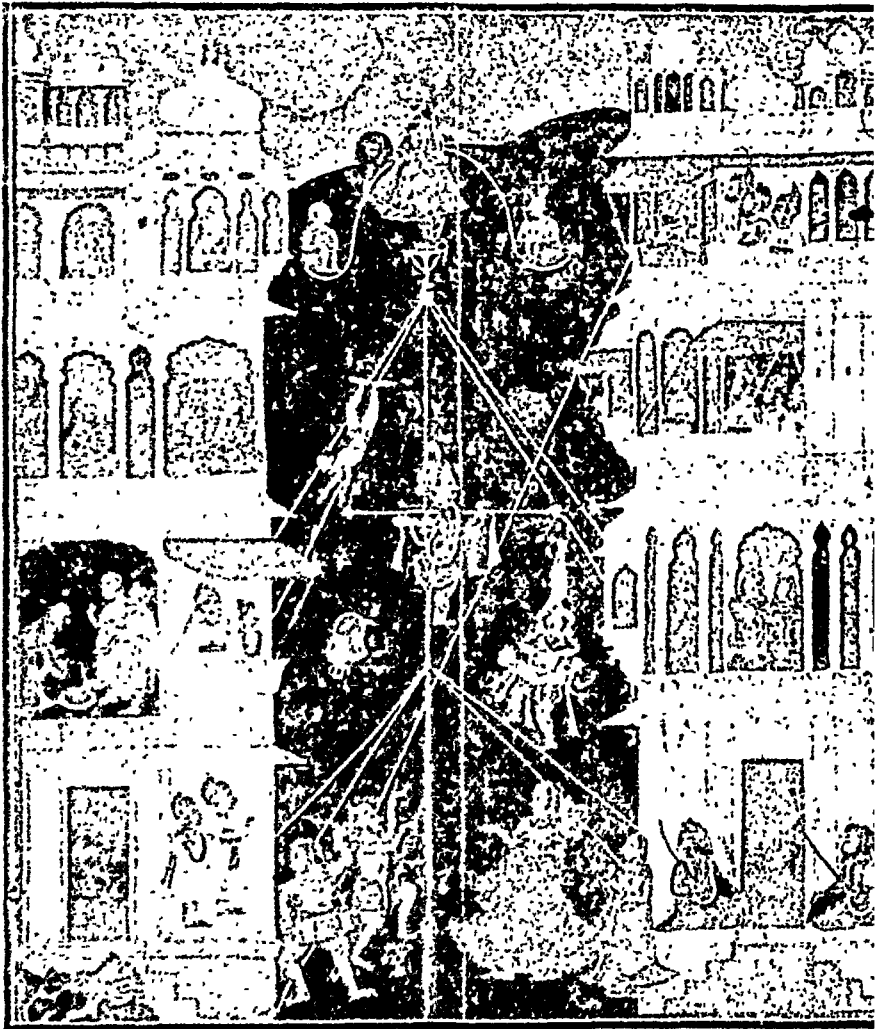
नाटक करते हुए इलायची कुमार शान्त स्वभावी मुनि श्री को ं कर वैराग्य को प्राप्त हुए।

२६

इलायची-कुमार

चौदहसौ वर्ष के पहले का ज़िक्र है, जब हमारे देश में इला-पुर नाम का एक श्रेष्ठ नगर था। धनदत्त वहाँ नगर-सेठ थे। रूपवती उन की पत्नी थी। उस की कोख से इलायची कुमार का जन्म हुआ। सेठ अर्ब-खर्ब पति था। और, संसार के सारे सुख उस के घर में टहलुए-से बन कर रहते थे। उचित समय पर, कुमार की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। थोड़े ही

समय में पढ़-लिख कर वह प्रवीण बन गया। यौवन की सन्धि में, एक सुन्दर और शील-सम्पन्न कन्या के साथ कुमार का विवाह कर दिया गया। यूँ, कुछ काल आमोद-प्रमोद में बीत गया। कुमार के जीवन-रूपी नाटक का एक अंक यह समाप्त हो गया।

" Fate's lines are ineffaceable." अर्थात् कर्म की रेख में मेख मारना प्रायः असम्भव है। " What is fated, cannot be awaited.' अर्थात् भाग्य में जो लिखा होता है, वह हो कर के ही रहता है। इस को किसी ने और भी यूँ खुलासा किया है—" भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषं।" अर्थात् भाग्य-बल के आगे विद्या और पौरुष, बल-हीन हैं। नगर में एक दिन एक नट आया। जगह-जगह लोग उस की क़रामातों को देख कर, दाँतों तले अँगुली लगा रहते। अपनी प्रसिद्ध नट-विद्या तो उस के साथ थी ही। पर इस से भी बढ़ कर एक क़रामात उस के पास और थी। वह थी, उस की यौवन सम्पन्न पुत्री। कोमलता, सौन्दर्य और यौवन की त्रिवेणी, उस के शरीर-प्रदेश के कोने-कोने को स्वर्ग-धाम बनाये बैठी थी। यही कारण था, कि जहाँ भी कहीं एक बार वह चला जाता, जनता की अपार भीड़, उस की उस त्रिवेणी के दर्शन के लिए, उमड़ पड़ती। एक दिन कुमार ने भी कहीं उसे देख लिया। तभी से उस का मन उस पर लट्टू हो गया। परिणाम भी वही हुआ, जो होना चाहिए था। तभी तो किसी ने क्या ही सुन्दर कह दिया है, कि—

" इक भींजै चहले परैं; बूड़े—बहे हज़ार।
कितै न औगुन जग करत; नय-वय चढ़ती बार॥"

कुमार के धर्म और मर्यादा के बाँध टूट गये। "एक नारी, सदा ब्रह्मचारी, " का व्रत खंडित हो गया। अब तो–'कामातुराणां न भयं न लज्जा।'–के अनुसार, कुमार कामातुर हो उठे। वे घर को आये। अब उन का प्रत्येक पल इसी चिन्ता में बीतने लगा, वह परम सुन्दर नट-पुत्री प्राप्त हो, तो कैसे हो! इस चिन्ता ही चिन्ता में, कुमार का सारा खाना-पीना खराब हो गया; और नींद हराम। चेहरे का सारा नूर उतर गया। यह देख, पिता ने एक दिन उन्हें पूछा, "बेटा, तुम्हें कमी कौन-सी है, जो आज-कल दिनों-दिन तुम सूख कर काँटा बने जा रहे हो! कोई रोग हो, तो धन्वन्तरि के समान धुरन्धर वैद्यों को मैं बुलाऊँ! कोई चाह हो, तो इसी क्षण में उसे पूरी करूँ! कोई कसक हो, तो उस काँटे को बाहर निकाल मैं फेंकूँ। किसी ने तुम्हारे मान को भंग यदि किया हो, तो उस के मान को मैला, मैं मिनिटों में मैला आज कर दिखाऊँ! बेटा! निःशंक हो कर, अपने दिल को खोल कर, तुम मेरे सामने रक्खो।" "यदि आप मुझे जीवित रखना चाहते हैं; आपके हृदय में कुछ प्रेम यदि मेरे प्रति है, तो—

"एक हु आँक मोर मन-माँहीं मोंहि नटवी को देउ परणाँहीं॥
इहि ते बढ़-कर काज न कोई। अब मम जीवन तब हीं होई॥
तब लगि खान-पान नहिं करिहूँ। जब लग वाके सँग नाहिं वरिहूँ॥"

कुमार की इस बात को सुन कर, पिता एकदम चौंक पड़ा। वह बोला, "बेटा! आज तुम यह कह क्या रहे हो? क्या, किसी नशीले पदार्थ का सेवन तो आज तुम ने नहीं किया है? क्या, नटवी और, तुम–जैसे कुलीनों का परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध? और, उस पर भी, अन्न-पानी के त्याग का यह

कठोर प्रण ? बेटा ! ये बातें, तुम्हारे वंश को, तुम्हारी मान-मर्यादा को, तुम्हारी जाति को और तुम्हारे बाप के उज्ज्वल नाम को बट्टा लगाने वाली हैं ! तुम्हारे धर्म और धन के भी प्रतिकूल यह बात है ! फिर, एक विवाह तो तेरा बहुत पहले हो भी चुका है ! तब यह कुमति तुझे सूझी ही तो क्यों ? हाथ का छूटा हुआ, एक बार फिर कभी मिल भी सकता है; पर मुँह का निकाला हुआ बोल तो, फिर कभी मिल भी नहीं सकता। अतः बोल सँभाल कर और तोल कर बोलना चाहिए।" परन्तु कुमार के दिल और दिमाग़ पर, कुमति का कट्टर जादू, अपना अटल अधिकार जमाये बैठा था। बेचारे बाप की तब वह सुनने ही क्यों लगता ! "अभी, मैं और कुछ भी सुनता-समझता नहीं। आप तो उस का विवाह-भर अभी मेरे साथ कर दें। बस, इतना ही मैं चाहता हूँ।" कुमार ने उत्तर दिया। इतने में, माता भी वहाँ आ पहुँची। अब पिता-माता दोनों मिल कर, कुमार को समझाने-बुझाने लगे। परन्तु कुमार अपनी ज़िद पर अटल थे। वे टस से मस भी न हुए। पिता-माता की सारी गिड़गिड़ उन के लिए अरण्य-रोदन हो गई। अब कुमार की धर्म-परायण पत्नी वहाँ आई। वह बोली- "भगवन्, आज आख़िरकार यह मामला क्या है ? जब एक पति-परायणा पत्नी, अपने पति को, यदि आज छोड़ बैठती है, तो व्यभिचारिणी तथा कुलटा, आदि नामों से वह पुकारी जाने लगती है। जगत का यह आँखों-देखा लेखा है। तब क्यों नहीं ऐसा ही कोई कलंक पुरुष-वर्ग के सिर भी कभी मढ़ा जाता है ? क्या, कानून बनाने का सारा अधिकार, उन्हीं के हाथों सदा से चला आया है, इसी कारण, एक पत्नी-व्रत धर्म को जब चाहे तब, जहाँ चाहे

तहाँ, और जैसे चाहे वैसे, छोड़ कर भी, वे सदाचार और शील का सुन्दर सेहरा, अपने सिर पर, सदा बाँधे रह सकते हैं? कदापि नहीं! व्यभिचारी, कुलांगार, लम्पट आदि कहलाने का कलंक उन के सिर पर लगेगाः और अवश्य लगेगा। यह तो यह, एक नटवी को अपनी अर्द्धांगिनी बना कर, जिस घर और वंश की शीतल छाया में आप पले-पुषे हैं, उन तक को कलंकित आप करना चाहते हैं! यह विवाह नहीं! वरन्, मुझ अनाथिनी के सर्वस्व को, दिन-दहाड़े लूटने का, यह मनसूबा आप बाँध रहे हैं! क्या, उस दिन की प्रतिज्ञा को, पुरुष हो कर भी, आप यूँ भूल गये, जब कि आप ने अपना हाथ मुझे सौंपा था? मेरे साथ, भाँवर में सात पैर चल कर, क्या, आपने नहीं कहा था, कि "आज से मैं तुम्हारा और तुम मेरी हो"? स्वामिन! हम अब अबलाओं का यूँ तिरस्कार न कीजिए! हम अबलाएँ हो कर के भी सब से अधिक सबलाएँ हैं। हमारे द्वारा अपने हक़ों की हिमायत-भर करने की देर होती है। बस, तब तो हमीं अबलाएं, काली, रण-चण्डी, रुद्राणी, शक्ति, दुर्गा, महा-माया का रूप धारण कर लेती हैं। जगत् का ओज, तब हमारा अपना होता है। इतिहास इस बात की पुष्टि करते हैं, कि हम में से एक-एक के लिए तक, इस धरा-धाम पर, समय-असमय, रक्त की नदियाँ बही हैं। संसार-भर के जितने भी वीर हुए हैं, और आगे भी होंगे, सबकी माताएँ हम हीं हैं। त्याग का अन्यतम उदाहरण, हम से बढ़कर, आज तक कोई भी जगत् में रख न सका। पुरुष-वंश की शान उसके मान और नाम आदि को रखने-भर के लिए, हम ने अपने पिता के वंश तक को, सदा के लिए, अपने पति के वंश में

मिला दिया। उसी जाति की,मुझ अबला का आप यूँ अपमान करने को उतारू न हूजिए!" इस लम्बी, चौड़ी, और हृदय-वान् के हृदय को हिला मारनेवाली वाणी का भी कुमार के ऊपर कोई असर न हुआ। उन के कान पर जूँ तक न रेंगी। कुमार, मोह-मदिरा में इतने बे होश थे। उस के कारण उन्हें पूरे १०८ डिग्री का बुखार चढ़ा हुआ था। उस समय ये हित-कर बातें रुचतीं भी तो कैसे? फिर भी कुटुम्ब के बड़े-बूढ़े सभी ने, कुमार को बारी-बारी से समझाने का अपना फ़र्ज़ अदा किया। जब किसी के कहने का कोई भी असर होता न देखा, तब तो लाचार हो कर, सेट ने आखिरी उपाय ही अव-लम्बन किया। वे नट के पास आये।

सेठ नटराज से बोले, "भाई, जितना भी चाहे धन मुझ से ले लो। अपना जीवन एक जगह बैठ कर सुख-पूर्वक बिताओ। बदले में,तुम्हारी पुत्री मेरे पुत्र को दे दो।" सेठ की बात को सुनी-अनसुनी कर के, नट तमक उठा। वह बोला, "महाराज! आप बड़े हैं,सेठ हैं.तो अपने घर के हैं। मैं छोटा हूँ; फिर भी अपने घर का शाहनशाह हूँ। बोल, ज़रा सम्हाल कर मुँह से बोलिए! लड़की का पैसा लेना, मैं विष्टा खाना समझता हूँ। बेटियों के बदले पैसा! यह तो मैं ने आप ही के मुँह से आज सुना! हाँ, विपरीत उदाहरण तो इस के कई मिलते हैं। सेठजी! आप बड़े हैं, इसीलिए चाहे जिसको जैसा चाहें, कदापि नहीं कह सकते। और, हम छोटे हैं, इसीलिए ऐसी-वैसी बातें हर एक की सुनते रहें, कदापि हो नहीं सकता!" नट की बातें सुन कर सेठ का सिर सहम गया। उन की आँखें नीची हो गईं। नट राज के सामने अपनी भूल

उन्हों ने स्वीकार की। और, साथ ही बिना पैसा लिये-दिये ही उस की कन्या को अपने पुत्र के हाथ दे देने की प्रार्थना भी। नट ने स्वीकार तो उसे कर लिया। पर एक शर्त साथ में लगा दी। शर्त थी- "कुमार अपने प्यारे परिवार और कुंवर के वैभव को याट के चटोंही की भाँति छोड़ दें। वे हमारे ही साथ, हमारे वेष में पूरे बारह वर्ष रह कर, नट-विद्या में निपुण बनें। यदि कुमार इतना स्वार्थ-त्याग करने को तैयार हैं, तो अन्त में मेरी पुत्री को, खुशी-खुशी में उन्हें दे दूँगा।"

सेठ का सिर ठनक पड़ा। उलटे पैरों लौट कर वे कुमार के पास आये। नट की मनशा की पहली को कुमार के सामने उन्हों ने रक्खा। कुमार तो पैरों पर खड़े ही थे। नट-कुमारी की प्राप्ति में, वे सर्वस्व तक को होम देने के लिए तैयार हो गये। नट की प्रत्येक बात को पूरा कर देने का, प्राण रहते, प्रण उन्हों ने किया। सब तरह से अपनी स्वीकृति उन्हों ने दे दी। फिर भी उनके हितेच्छुकों ने उन्हें समझाया। पर अन्त में जो भी कुछ होनी थी, वही हो कर रही। बात की बात में, अपने सारे प्यारे परिवार और अतुलनीय सम्पत्ति से नेह-नाता तोड़, कुमार नट के साथ हो लिये। नट-वेश, धारण उन्हों ने कर लिया। अब तो दिन पर दिन; महीनों पर महीने, और वर्ष पर वर्ष बीतने लगे। एक दिन आया, जब बारह वर्ष भी, नट-कन्या की प्राप्ति की धुन में, कुमार ने पूरे-पूरे काट दिये। काम लगन से हुआ था। अतः कुमार नट-विद्या में भी पूरे-पूरे निपुण बन गये। अब तो कुमार के लिए बात केवल इतनी सी रह गई थी, कि किसी भी राजधानी में चल कर, राजा के सामने तमाशा दिखाना; और उस की

रीझ पाना। रीझ पाते ही कुमारी, कुमार को सौंप दी जावेगी।

वह भी दिन आया। एक दिन एक राजधानी में पहुँच कर खेल रचा गया। इस निपुण नट के नामी खेल को देखने के लिए, जनता की भीड़ बरसाती कीड़ों-मकोड़ों की भाँति उमड़ पड़ी। खेल प्रारम्भ हुआ। कुमार ने कमाल कर दिया। उन की चतुराई को दुबारा देखने की इच्छा से, बीच-बीच में कई बार 'वंस मोर,; वंस मोर' (एक बार फिर; एक बार फिर) के नारे बुलन्द हुए। फिर भी राजा, रीझ देने में झिचक रहा था। उस का इरादा था, की नट-कुमार, नीचे गिर पड़े; और वह स्वयं उस के बदले, उस नट कुमारी को हथियाले। दोनों ओर अपने-अपने बल की, पूरी खींचा-तानी थी। एक ओर, कुमार अपनी कला की बारीकियां दिखाने में लगे थे; दूसरी ओर, राजा रीझ देने में उतना ही अधिक खींचातानी कर रहा था। भावों की शुद्धता और अशुद्धता का यह द्वन्द्व युद्ध था, जो देखते ही बन पड़ता था। इतने ही में एक अनोखी घटना घटी। कुमार की अग्नि-परीक्षा के अन्तिम क्षण का अन्त हुआ। दूर ही से, ऊपर चढ़े हुए, कुमार ने किसी निर्ग्रन्थ-मुनि को, आहार पानी के हेतु, एक सेठ के घर में जाते देखा। उन्होंने यह भी देखा, कि सेठ की रूप-यौवन-सम्पन्न स्त्री मुनि को भोजन वहरा रही है। मुनि की नज़र नीचे को है। वे कह रहे हैं, "बहिन, बस करो। अब नहीं; अब नहीं।" यह देखते ही कुमार ने अपनी दशा की तुलना, मुनि महाराज के आचरण के साथ की। मुनि के आत्म-संयम और मनोनिग्रह की हृदय ही हृदय में हज़ारों बार प्रशंसा कुमार ने की। दूसरी ओर, अपने काम-विकार की निन्दा भी भर-पेट उन्होंने की।

अरणकजी के "जैन धर्म झूठा है" ऐसा न कहने पर वह भयंकर देव जहाज़ को सिर पर उठा आकाश में ले उड़ा और उसे समुद्र में डुबाने की चेष्टा कर रहा है।

एक नट-पुत्री के पीछे, अपने, उत्तम कुल, अतुलनीय वैभव और उत्तम मानुष-जन्म को जैसे भी बरबाद उन्होंने कर दिया था, रह-रह कर सब बातें उन के सामने आने लगीं। आत्म-धिक्कार के द्वारा सब का पूरा-पूरा प्रायश्चित उन्होंने उस समय किया। इस भाव-शुद्धि के हृदय-देश में प्रवेश करते ही, कैवल्य-ज्ञान का प्रदीप्त प्रकाश वहाँ फैल गया। यूँ, नट का खेल ही समाप्त नहीं हुआ; वरन् संसार के आवा-गमन के नाना-विध रूप धारण करने का खेल भी, कुमार के लिए सदा को समाप्त हो गया। उसी पल, भव-बन्धन की पाँश उन्होंने अपने गले से काट फेंकी। और मुक्ति के मार्ग में प्रवेश कर, अनादि एवं अनन्त सुखों के आवास, परम-धाम को वे जा पहुँचे।

२०

सुश्रावक अरणकजी

भगवान् अर्हनाथ, अठारहवें तीर्थंकर के शासन समय चम्पा नगरी में, 'चन्द्रच्छाया' महाराज राज करते थे। वहीं श्रमणोपासक, 'अरणक' नाम के एक वैभवशाली वैश्य भी रहते थे। धर्म और अधर्म का विवेक, इन का बड़ा ही बढ़ा-चढ़ा था। धर्म ही इन के प्रत्येक काम का प्राण था। यही कारण था, कि लोग इन्हें 'दृढ़-धर्मी,' 'प्रिय-धर्मी' आदि नामों से पुकारने

लगे थे। एक दिन अन्य वणिकों ने इन के सामने प्रस्ताव रक्खा, कि जहाज़ों पर चार प्रकार का माल लाद कर, अपन सब के सब विदेशों को चलें। गर्मागर्म बहस हुई। अन्त में, प्रस्ताव सर्वानुमते स्वीकृत हो गया। शुभ मुहूर्त देखा गया। वणिक् लोग चम्पा से चलकर बन्दर-गाह पर आ डटे। माल, जहाजों पर लाद दिया गया। पुष्प नक्षत्र के शुभ संयोग में जहाज़ विदेशों के लिए चल पड़े।

प्रस्थान के स्थान से पचासों कोस चल चुकने पर, समुद्र में एक घटना घटी। एक देव ने उस समय अरणक के धर्म की परीक्षा लेना चाही। अपनी माया का विस्तार उसने किया। बात की बात में प्रकृति-देवी ने भी अपना रंग बदल दिया। असमय ही में घनघोर वृष्टि के चिन्ह आकाश में दिख पड़ने लगे। सूर्य छिपा; अन्धकार छाया, कड़क-कड़क कर बिजलियाँ कौंधने लगीं। एक ही देव, अनेकों भयानक रूप धारण कर के आकाश में दिख पड़ने लगा। उसी देव के एक रूप ने, जो कापालिक के वेश में था, अरणकजी के सामने आकर, चीखते हुए कहा, "अरणक! सम्हल! मैं ने तेरा काम तमाम किया।" लपलपाती हुई तलवार को अरणकजी के सिर की ओर उसने फेंकी। अरणकजी हिमालय के समान अचल रहे। टस से मस भी वे न हुए। मृत्यु के इस आकस्मिक आलिंगन को फूलों की गुद-गुदी सेज उन्होंने समझा। सागारी-संन्थारा उन्हों ने तब धारण कर लिया। देव को अरणकजी का यह व्यापार रूखा लगा। वह और भी पास आ धमका। कड़क कर वह उन से बोला, "अरे अरणक! तू अपने धर्म से पतित होना, चाहे ठीक समझ, या न समझ, मैं

तो सारी जहाज़ ही को उलटा कर, तेरा और तेरे सारे साथियों का अभी काम ही तमाम किये देता हूँ ! अरणक ! क्यों, ज़रासी वात के लिए, अपने सारे साथियों के प्राण-नाश के प्रखर पाप को अपने पल्ले बाँधता है ! समय है; अभी भी सम्हल जा ! "

" देव ! तू तो है ही क्या ! स्वयं इन्द्र भी आकर प्राणों का प्रलोभन मुझे इस समय दें, तो भी धर्म के पथ को मैं छोड़ नहीं सकता । " अरणकजी ने देव से कहा । अरणकजी पर अभी दुहरी मार थी । देव का प्रकोप तो एक ओर अपनी भीषणता दिखला ही रहा था । दूसरी ओर, उन के साथी भी, धर्म छोड़ देने के लिए उन्हें विचलित कर रहे थे । वे उन्हें डाट-डपट रहे थे; भाँति-भाँति से कोस रहे थे; उन के प्राणों के नाश से, उन के कुटुम्बियों के प्राण-नाश की शंका उन के सामने वे उपस्थित कर रहे थे । अरणकजी को वे समझा रहे थे, " मैं धर्म छोड़ता हूँ, " इतना ही तुम्हारे कहने-भर से सारा झगड़ा जब तय हो जाता है, तो कह क्यों नहीं देते ! समझलो, कोई पाप भी इस से कभी लगा, तो आलोचना कर ली जावेगी । फिर, तुम्हारा धर्म ही पहले इतना अधिक है, कि यह पाप तो उस की पासँग में भी नहीं आ सकता ! इस के उपरान्त भी कोई पाप यदि-कोई हुआ, तो वह हमारे सिर-पल्ले पड़ेगा । " यह सुनकर के भी, अरणकजी प्रशान्त महासागर के समान गम्भीर थे । अपने विचारों पर ध्रुव के समान वे अटल थे । ताप पर ताप देते रहने पर जैसे, कुन्दन की कान्ति और भी फूट निकलती है, देव और साथियों के भीषण वाक्-प्रहार ने वही काम उन के लिए किया । साथियों ने तब तो जीवन की आशा ही छोड़ दी ।

वे बार-बार अरणकजी को और भी अधीर करने की चेष्टा कर ने लगे। देव ने भी एक बार उन्हें और समझाया। परन्तु-'धर्म का रंग अरणकजी के हृदय में जड़ पकड़े बैठा था। सारी बातों को एक कान से उन्हों ने सुना। और, दूसरे से 'फुर्र' कर के निकाल दिया। क्यों कि,वे भली भाँति जानते थे, कि "विपत्ति जो भी भयंकर सर्प के समान होती है, परन्तु उसके गुण सर्प की मणि से अधिक कीमती नहीं, तो कम भी वे किसी प्रकार नहीं होते।

देव ने जहाज़ को उठाया। आकाश में वह उसे ले उड़ा। साथियों ने अब तो बिलकुल ही आशा, जीवन की, छोड़ दी। तरह-तरह से अरणकजी को कोसते हुए फूट-फूट कर वे रोने लगे। हज़ारों तूफ़ान आये ! और धर्म-प्राण अरणकजी के अटल विश्वास रूपी अचल से टकरा कर, चूर-चूर हो गये। देव को अरणकजी के दृढ़-धर्मी होने का परिचय मिला। तत्काल ही सारे उपसर्गों का एकाकी अन्त हो गया। दिव्य रूप को धारण कर देव,अरणकजी के सामने आया। उस ने अपने अपराधों की बार-बार क्षमा चाही। दो कुण्डल की जोड़ियां भी भेंट में उन्हें उसने दीं। तब वह अलोप हो गया। साथियों ने भी समझ पाया, कि वे अरणकजी ही थे, एक-मात्र जिन्हों ने ही उन्हें आये हुए सम्पूर्ण उपसर्गों से बचाया। दृढ़ धर्म का मर्म भी आज ही उन्हें जान पड़ा। "जीवन में उन्नति, सुधार और अपार आनन्द कारण एक-मात्र धर्म ही है," सभी साथियों के मुँह से सहसा निकल पड़ा। अब तो अरणकजी से अपने अपराधों की क्षमा वे चाहने लगे। जहाज़ भी सानन्द दक्षिणी समुद्री तट पर आ लगा। जहाज़ से उतर-उतर

कर, माल गाड़ियों में लदवा दिया गया। और, निर्विघ्न, चरूपा को वे सब आ पहुँचे। यतोधर्मः ततो जयः अर्थात् जहाँ धर्म रहता है, जय वहाँ अवश्य रहती है।